कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

Year 2, Issue 6
April-June, 2005

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष २ - अंक ६, अप्रैल-जून २००५

वसुधा
संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
ग़ज़ल	डॉ. अम्बाशंकर नागर	३
शिव और शैतान	डॉ. विष्णु प्रभाकर	४
शब्द चहके सवेरा लिए स क पर	सुभाष ऋतुज	८
ईश्वर के बारे में बहस	विष्णु नागर	९
ज़िन्दगी	मधुप शर्मा	१०
नाटक की नौटंकी	अगस्त्य कोहली	११
पापा ऐसे नहीं हैं	सुधा गोयल	१४
ग़ज़ल	जय चक्रवर्ती	१७
आपको क्या कह कर पुकारें?	डॉ. सरला अग्रवाल	१८
चंदा की चाँदनी में चाचा चाची	भुवनेश्वरी पाण्डे	२०
रविवार	डॉ. शंकर पुणतांबेकर	२१
दम्भी	सुमन कुमार घई	२५
बोध गया : भगवान बुद्ध की साधना भूमि	डॉ. चतुर्भुज	२६
रोशनी भी मिली तीरगी की तरह	बनाफर चन्द्र	२७
आदमी जो पूरा ही स गया	गुणानंद थपलियाल	२८
पहचान मुश्किल है	डॉ. भगीरथ ब ोले	३०
लेखक मित्र	महेश राजा	३१
ईमान का इनाम	डॉ. योगेन्द्र शुक्ल	३२
सुकरात के बेटे	डॉ. दामोदर ख से	३२
बचपन	डॉ. अरविन्द ठाकुर	३३
मेयर की जेब, व्यवस्था की जेब	डॉ. जवाहर चौधरी	३४
आस्था के आयाम	लता पाण्डेय	३६
भारतीय भाषाओं की संजीवनी शक्ति और राष्ट्रीय ऊर्जा	डॉ. विजय राघव रेड्डी	३७
आषाढ़ का आखिरी दिन	डॉ. सुषम बेदी	४०
मुखौटे	सुरेश शर्मा	४१
भावनाओं के सागर में	डॉ. इन्द्रा भटनागर	४१
जीवन-वीणा का संगीत	डॉ. सुशीला गुप्ता	४२
शांत जीवन	ए. पोप अनुवादक : मुकेश कुमार	४२
सुनामी	स्नेह ठाकुर	४३

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534

संपादकीय (अंक ६, अप्रैल-जून २००५)

वैसे तो हर नया साल नई उमंगें, नया प्लान लिए चढ़ता है, पर २००४ का अंत कुछ इस त्रासदी से हुआ कि २००५ का चढ़ता नया साल अपनी लीक से हट गया। जहाँ साल के अंत में लोग आने वाले साल के लिए अपने जीवन सम्बन्धित नई दिशाएँ, नियम, योजनाएँ आदि निर्धारित करने लगते हैं - यद्यपि कि उन पर कितना अमल करते हैं, उन निश्चयों पर कितने समय तक दृढ़ रहते हैं, यह बात अलग है, तथापि बनाते जरूर हैं। पर २००४ के सुनामी ने २००५ की नव-उल्लसित आशाओं को कोंपल बनने से पहले ही कुचल दिया। सुनामी ने न केवल आपदा-ग्रस्त लोगों को दहलाया वरन् विश्व को ही करुणा-सागर में डुबो दिया। हिन्द महासागर के तल की गहराईयों से भीषण राक्षसों-सी तिमंजलों जैसी ऊँची-ऊँची ,दहा` मारती लहरें उठीं। समय के उस पल में लहरों ने अल्पकाल में ही अपने विनाशकारी तांडव से विध्वंस कर अनेक देशों में त्राहि-त्राहि मचा दी।

आज के तकनीकी युग ने प्रकृति के भयंकर रूप में ढ़ली सुनामी त्रासदी को अपने यंत्रों द्वारा संसार के लोगों को इस तरह से दिखा दिया कि जो लोग वहाँ उपस्थित नहीं थे उनकी भी रूह काँप गई; किसी भी आँख की कोर सूखी न रह सकी। जो भी हमने देखा, पढ़ा, सुना उसने मानव मानव में एकरूपता बना दी, हम और वो का अंतर मिटा दिया, वो वो न रहे, हम हम न रहे, केवल एक ओर हम-सब और दूसरी ओर प्रकृति जिसका हम सब एक अंग हैं और जो हमसे कहीं ज्यादा शक्तिशाली है। पर मानव भी तो सृष्टि की अनुपम, श्रेष्ठ कृति है। उसे हर हाल में, संघर्ष कर, निराशा के गर्त से उबरना होगा -

जीना क्या जीवन से हार के
चल प` कि श्वास है अभी बाकी
हर साँस जी गया जो ऐसे
मरने का उसको ग़म नहीं कभी।

कहती है धरा, कहता है गगन
चलता नहीं ताउम्र गर्दिशों का सफ़र
काली अँधेरी रात में चाँदनी खिल जाएगी
तुझे अँधेरों में रोशनी मिल जाएगी।

जीवन है संघर्षों का नाम
कर ले तू हर मुश्किलें आसान
साहस का दामन न तू छो कभी
साहस से मिली मौत भी है ज़िन्दगी।

संघर्ष ज़िन्दगी का सार है
सफलता की सीढ़ी है
कुछ भी नहीं काबिले-हासिल
गर चुनौतियों के चक्रव्यूह से न निकले जीवन।

हीरा बिन तराशे चमकता नहीं
पॉलिश रत्न की बिन रग होती नहीं
सोना बिन अग्नि निखरता नहीं
बिन धुने कपास रूई बनती नहीं
इंसान भी तब तलक रहता है अधूरा आदमी
जब तलक वो संघर्षों के दौर से गुज़रता नहीं।

सस्नेह,
स्नेह ठाकुर

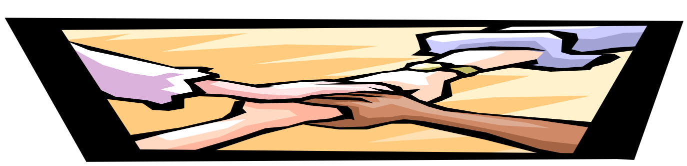

ग़ज़ल

डो. अम्बाशंकर नागर

गिर गये आँख से जब आँख मिलाने वाले,
क्यों सताते हैं मुझे अब ये ज़माने वाले।

मयक़दे में जो सुना मान लिया सच उसको,
कान के कच्चे हैं क्यों इतने ज़माने वाले।

मेरी राहों में बिछाते थे जो आँखें अपनीं
आज वो आँखें चुराते हैं ज़माने वाले।

कल तलक आँख मिलाने से जो घबराते थे,
आज दिखाते हैं आँखें वो ज़माने वाले।

अब तलक चुप था मगर आज ज़ुबाँ खोलूँगा,
अपना दिल थाम के बैठें ये ज़माने वाले।

शिव और शैतान

डॉ. विष्णु प्रभाकर

रामकृष्ण जिस होटल में ठहरे थे वह बहुत ब ा तो नहीं था लेकिन बहुत सुन्दर अवश्य था। आधुनिक दृष्टि से सजे हुए दो पलंग उसमें बिछे हुए थे। उनके बीच में दीवार से सटी हुई उतनी ही सुन्दर मेज़ थी। दरवाज़े के पास बाथरूम था। पीछे की ओर शीशे के द्वार बने हुए थे और उन पर सुन्दर-सुन्दर पर्दे प े थे।

यह सब देखकर रामकृष्ण जी बहुत प्रसन्न हुए। उनसे भी अधिक प्रसन्न हुईं उनकी पत्नी डॉ. श्यामा। अभी वे सामान ठीक करके आरामकुर्सी पर बैठे ही थे कि दरवाज़े की घंटी बजी। रामकृष्ण ने तुरन्त उठ कर दरवाज़ा खोला तो सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर पाए। उन्हीं के कस्बे के एक सज्जन शेख़ मोहम्मद जान उनके सामने ख े थे। रामकृष्ण जी एक बार तो हिचके फिर तुरंत गद्‌गद् होकर बोले, 'हैलो शेख़ साहब, आप यहाँ कैसे?'

शेख़ साहब ने हँसते हुए उसी गरम जोशी के साथ जवाब दिया, 'मुझे एक जरूरी काम से कलकत्ता जाना है। दो-तीन दिन के लिए बिहार शरीफ़ में भी रुकूँगा।'

रामकृष्ण जी बोले, 'मैं भी कलकत्ता जा रहा हूँ लेकिन संगम स्नान के लिए यहाँ रुक गया हूँ। मेरी पत्नी भी साथ आई हैं। काशी में भी रुकेंगे हम लोग।'

शेख़ साहब हँसे, 'तो बेगम साहिबा भी तशरीफ लाईं हैं।'

तब तक श्यामा बाथरूम से वहाँ आ चुकी थी। वह एक कॉलेज में प्रोफेसर थीं। मुस्कुराकर बोलीं, 'शेख़ साहब! आप जानते ही हैं, प्रयाग हमारा बहुत ब ा तीर्थ है। यह प्राकृतिक दृष्टि से भी बहुत सुन्दर स्थान है। गंगा-यमुना का संगम होता है यहाँ। पहले सुप्रसिद्ध सरस्वती नदी भी यहीं बहती थी लेकिन अब तो वह लुप्त हो गई है पर अभी भी यह स्थान त्रिवेणी के नाम से जाना जाता है। इस संगम में स्नान करने से बहुत पुण्य मिलता है। और काशी तो है ही भगवान शिव का स्थान। कहते हैं कि वह भगवान् शिव के त्रिशूल पर ठहरी हुई है।'

शेख़ साहब मुस्कुराए, 'तो यूँ कहो कि आप पुण्य बटोरने आए हैं। बटोरिये, मैं भी यहाँ सामने के कमरे में ठहरा हूँ। खाने के वक्त हम लोग साथ-साथ नीचे चलेंगे। अभी मैं बाजार जा रहा हूँ। तब तक आप भी नहा-धो लीजिए। मैं जाते हुए चाय का आर्डर देता जाऊँगा।'

यह कहते हुए शेख़ साहब नीचे उतरते चले गए।

श्यामा ने द्वार बंद करते हुए कहा, 'परदेस में अपने कस्बे का कोई आदमी मिल जाए तो कितना अच्छा लगता है।'

हँस प े रामकृष्ण जी, बोले, 'श्यामा! तुम कहती ठीक हो पर क्या तुम इस व्यक्ति को जानती हो? क्या तुम जानती हो दो वर्ष पहले हमारे कस्बे में जो भयंकर साम्प्रदायिक दंगा हुआ था, उसमें हमारी दुकान को आग लगाने वाले यही शेख़ साहब थे। यह मुझे मार भी सकते थे लेकिन ठीक समय पर पुलिस का दल आ गया और ये लोग तुरंत इधर-उधर भाग गए।'

श्यामा ने सुना। एक बार तो सकपका गई, फिर बोली, 'आप उन्हें अच्छी तरह जानते हैं?'

रामकृष्ण सहसा हँस प े, 'क्यों न पहचानूँगा, इन्होंने मुझ पर एक उपकार भी तो किया है।'

डॉ. श्यामा चौंकी, बोली, 'उपकार, आप पर. . . .कैसे?'

रामकृष्ण जी बोले, 'मैंने अपनी दुकान का जो बीमा करवाया हुआ था। उस बीमे के कारण मेरा जितना नुकसान हुआ उससे दुगुना पैसा मुझे मिल गया।'

श्यामा सहसा कुछ नहीं बोली, फिर धीरे-धीरे कहा, 'वह तो ठीक है पर यह सब जानकर इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हमें सावधान रहना होगा।'

ठीक कहती हो तुम, हमें सावधान रहना होगा। क्या वह भी यह नहीं जानते कि मैं वही व्यक्ति हूँ जिसकी दुकान में इन्होंने आग लगाई थी और अब वही व्यक्ति हमारा सबसे ब ा मित्र बन कर कैसी मीठी-मीठी बातें कर रहा है। कैसी है यह दुनिया?'

श्यामा प्रोफ़ेसर थी। उसने तुरंत जवाब नहीं दिया। उसके अंतर में घमासान मच आया था। इसलिए वह चुपचाप स्नानघर में चली गई, यह कहती हुई कि चाय आने तक मैं भी आ जाऊँगी।

और उसके कुछ देर बाद सबने मिल कर चाय पी। शेख़ साहब वहीं लेट गए। इधर-उधर की बातें सुनाते रहे, हँसते रहे। श्यामा भी हँसती थी लेकिन उसके अंदर का घमासान तुमुलनाद का रूप ले चुका था। खाने पर वह बराबर अपने पति के साथ रही लेकिन शेख़ साहब के साथ बातें करते हुए उसने यह प्रकट नहीं होने दिया कि वह उन्हें पहचानती नहीं। वह निरन्तर उनकी बातों का अध्ययन करती रही। कितने उल्लास से भरी हुई थीं उनकी आँखें। उल्लास श्यामा की आँखों में भी था लेकिन डर की एक हल्की-सी परत ने उस उल्लास को आच्छादित कर लिया था। इसलिए मस्तिष्क में कुरेदना मचती रही। कमरे में लौटकर उसने अपने पति से इतना ही कहा, 'हमें सावधान रहना होगा।'

हँस प` रामकृष्ण जी, बोले, 'कैसी प्रोफ़ेसर हो तुम ! मनुष्य के अन्तर को नहीं पहचानती। शेख़ साहब हमारे साथ ऐसी कोई हरकत नहीं करेंगे। बल्कि हमारी सहायता ही करेंगे। फिर हमें तो काशी ही रुकना है। शेख़ साहब तो जाएँगे बिहार शरीफ़। वहाँ से हमारे रास्ते अलग-अलग हो जाएँगे।'

शेख़ साहब अपने कमरे में जा चुके थे। रात घिरती आ रही थी। होटल प्रकाश से जगमगा उठा था। कई कमरों से आती संगीत की ध्वनि वातावरण को उल्लसित कर रही थी। वे सब सो गए। उन्हें कुछ पता नहीं लगा लेकिन आश्चर्य श्यामा बार-बार कुनमुना उठती थी। उस बार जब वह कुनमुनाई तो उसे ऐसा लगा कि कहीं कोई धीरे-धीरे कराह रहा है और वह कराहट वातावरण में बेचैनी पैदा कर रही है। वह कुछ सोच पाती कि सहसा वह कराहट तेज़ हो गई। उसे लगा जैसे यह कराहट उसके बहुत पास से आ रही है। वह अचकचा कर उठ बैठी। बल्ब की हल्की रोशनी में उसने देखा कि उसके पति बहुत बेचैन हो उठे हैं और यह कराहट उन्हीं के अंदर से उठ रही है। उसने सहसा भावाकुल होकर पूछा, 'क्या बात है? आप ऐसे बेचैन क्यों हो रहे हैं?'

रामकृष्ण जी ने आँखें खोलीं, धीरे-धीरे कराहते हुए जवाब दिया, 'श्यामा यहाँ....यहाँ मेरे दिल के पास ब ा दर्द हो रहा है, मुझे लगता है कि कहीं....।'

श्यामा ने तुरंत उनके मुँह पर हाथ रख दिया, बोली, 'आप तो बहुत जल्दी घबरा जाते हैं। मैं अभी मालिश करती हूँ। ठीक हो जाएँगे आप।'

लेकिन दर्द कम नहीं हुआ। छटछटाहट और भी बढ़ने लगी। अब तो श्यामा घबरा गई। फिर भी बोली, 'नहीं-नहीं आप ऐसे न करिये। मैं अभी बराबर के कमरे में डॉक्टर का पता करती हूँ। अपने को सँभालिए।'

यह कहते हुए श्यामा तेज़ी से उठी, द्वार खोला, पास वाले कमरे का दरवाज़ा खटखटाया। उसमें एक युवक ठहरा हुआ था। वह अभी भी कुछ काम कर रहा था। उसने तुरंत द्वार खोल कर पूछा, 'क्या बात है?'

श्यामा ने सब कुछ बताते हुए कहा, 'आप निश्चय ही किसी डॉक्टर को जानते होंगे। कृपया उसे बुला दीजिए।'

युवक ने हिचकिचाते हुए जवाब दिया, 'मैं यहाँ पहली बार आया हूँ। मैं न किसी को जानता हूँ, न ही यहाँ के रास्ते मालूम हैं मुझे। आप चिन्ता न करिए। मैं उनके पास बैठता हूँ। आप दूसरे कमरे में पता कर लीजिए।'

श्यामा कमरे में लौटी। युवक भी साथ था लेकिन रामकृष्ण जी की कराहट कम नहीं हो रही थी। उनका चेहरा दर्द से मुरझा गया था। उसने भीगे तौलिये से चेहरे को पोंछा, छाती को सहलाया पर उनकी कराहट बंद नहीं हुई। श्यामा को अपने को सँभालने में बहुत परिश्रम करना प रहा था। अंदर की वेदना उम -घुम कर आँसुओं का रूप ले चकी थी। वह यह जानती थी कि वह घबरा गई तो रामकृष्ण जी और भी व्यथित हो उठेंगे। युवक अब भी उनके हृदय पर धीरे-धीरे मालिश कर रहा था। सान्त्वना भी दिए जा रहा था, 'आप घबराएँ नहीं सवेरा होने वाला है, मैं....।'

श्यामा ने कुछ नहीं सुना। तभी न जाने क्या हुआ? वह तेज़ी से चलती हुई शेख़ साहब के कमरे की ओर बढ़ी लेकिन उसके अंदर न जाने कैसी आवाज़ें उठ रही थीं। शेख़ साहब तो मुसलमान हैं। वह हमारी मदद नहीं करेंगे....नहीं-नहीं ऐसे में हिन्दू मुसलमान होने का कोई प्रश्न नहीं उठता है। आख़िर मुसलमान भी तो इंसान होते हैं....।

इस तरह बार-बार एक-दूसरे को काटते हुए प्रश्न उठते रहे और वह आगे बढ़ती रही। एक बार वह सचमुच लौट प ी फिर न जाने किसने उसका मुँह शेख़ साहब के कमरे की ओर कर दिया और अनजाने वह भागती हुई शेख़ साहब के कमरे के सामने जा ख ी हुई। कुछ क्षणों में कितने चित्र उभरे, उभर कर मिटे, मिटकर उभरे लेकिन जब उसे होश आया तो वह शेख़ साहब के दरवाज़े पर दस्तक दे रही थी। पहली दस्तक पर कोई जवाब नहीं मिला। दूसरी बार उसने जोर से दस्तक दी, 'शेख़ साहब, शेख़ साहब।'

शेख़ साहब एकाएक उठ बैठे। लगा उन्हें कोई पुकार रहा है। उन्हें विश्वास नहीं आया। वह फिर लेट गए। तभी दस्तक के साथ-साथ ज़ोर की आवाज़ आई, 'दरवाज़ा खोलिए शेख़ साहब! मैं श्यामा हूँ।'

नाम सुनते ही शेख़ साहब सकपका गए। तुरंत उठे, दरवाज़ा खोल दिया, पूछा, 'कौन है?'

फिर उन्होंने श्यामा को पहचाना तो ब ी आत्मीयता से पूछा, 'आप इस समय ! क्या बात है बहन?'

श्यामा बोली, 'आप तुरंत मेरे साथ आइए, मेरे कमरे में। उनके दिल में दर्द उठ रहा है।'

दोनों भागते हुए कमरे में आए। युवक अभी भी उनके हृदय को सहला रहा था। शेख़ साहब ने तुरंत आगे बढ़ कर उनके सिर पर हाथ रख कर पूछा, 'कैसी तबियत है भाईज़ान?'

रामकृष्ण जी इतना ही कह पाए, 'डॉक्टर.... डॉक्टर....।'

श्यामा बोली, 'आप किसी डॉक्टर को बुला लाइए।' आगे नहीं बोल सकी। उनकी वाणी रुँध गई थी। इसी बीच में शेख़ साहब ने रामकृष्ण जी की ओर देखा। वह एक बार कुछ बेचैन हुए लेकिन फिर उनकी दिल की हरकत को पहचानते हुए बोले, 'डरने की कोई बात नहीं है। मैं अभी मैनेजर के पास जाता हूँ। हर होटल का अपना डॉक्टर होता है। उसे अभी लेकर आता हूँ।'

और कुछ ही क्षणों में शेख़ साहब तेज़ी से उतरते चले गए और पाँच मिनट बाद उसी तेज़ी से फिर वापस लौटे डॉक्टर को लेकर। इस प्रक्रिया में बराबर उनके दिल में यही भाव उठते रहे, 'या अल्लाह, या खुदा बंद ताला ! भाईजान की जान बचाइए।'

डॉक्टर श्यामा, पास के कमरे वाला युवक और शेख़ साहब तीनों अंदर के घमासान को रोककर डॉक्टर व उसके मरीज़ को देखते रहे। डॉक्टर ने स्टेथस्कोप हटाया, मुस्कुराए। सबके चेहरों पर आश्चर्यजनक प्रफुल्लता खिल उठी। डॉक्टर ने कहा, 'परेशान होने वाली कोई बात नहीं है। यह पेट का विकार है। वहाँ से उठने वाली गैस उनके दिल को दबा रही है और उसे हार्ट-अटैक मान रहे हैं। यह हार्ट-अटैक नहीं है। मैं अभी दवा भेजता हूँ। आइए मेरे साथ। सवेरे तक यह बिलकुल ठीक हो जाएँगे।'

और सचमुच जब सवेरा हुआ तो रामकृष्ण जी तकिये के सहारे बैठे हुए थे और शेख़ साहब अपने कमरे में जाकर सो गए थे। उधर देखते हुए रामकृष्ण जी ने श्यामा से कहा, 'क्या तुम विश्वास करोगी कि एक दिन इसी आदमी ने मुझे जान से मार डालना चाहा था।'

श्यामा तेल गरम कर रही थी, बोली, 'मुझे विश्वास नहीं होता लेकिन....।'

उसकी बात काटते हुए रामकृष्ण जी बोले, 'हाँ, विश्वास मुझे भी नहीं आ रहा। एक दिन जो आदमी मेरी जान लेना चाहता था, आज उसने मेरी जान बचाने की पूरी कोशिश की।'

श्यामा बोली, 'मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि यह आदमी बदमाश है।'

रामकृष्ण जी बोले, 'आदमी अपने अंतर में कभी बदमाश नहीं होता। परिस्थितियाँ ही उसे वह सब कुछ करने को मज़बूर कर देती हैं जो वह करना नहीं चाहता।'

रामकृष्ण जी ने आँखें बंद कर लीं मानों किसी गहरी समस्या में डूब गए हों। उन्होंने आँखे तभी खोलीं जब शेख़ साहब का ठहाका उनके कानों में प ा। बोले, 'ओए लाला जी ! रात तो तूने हम सब के हाथ-पाँव फुला दिए थे।'

रामकृष्ण कृतज्ञता से मुस्कुराए। बोले, 'आप नहीं होते तो मैं भी नहीं होता। तुम्हारे इस एहसान का बदला कैसे चुकाऊँगा मैं?'

शेख़ साहब उसी मस्ती से बोले, 'ओए लाला साहब ! बदले की बात छो कर यह बताओ कब चल रहे हो?'

'दो दिन ठहर के जा सकूँगा शेख़ साहब।'

'पर मैं तो कल जा रहा हूँ।'

'क्या जरूरी काम है?'

हाँ, बहुत जरूरी काम है।'

रामकृष्ण बोले, 'तब क्या किया जा सकता है पर साथ रहते तो अच्छा था।'

साथ तो हमेशा रहेगा क्योंकि हम एक ही कस्बे में रहते हैं। दोनों मुस्कुराने लगे। लेकिन शेख़ साहब अगले दिन नहीं जा पाए। उसी संध्या को उनकी तबियत खराब हो गई। उन्होंने सोचा अब ठीक होने पर ही जाना होगा लेकिन सवेरा होते न होते उनके पेट में तेज़ दर्द होने लगा। इतना तेज़ कि वह त प उठे।

रात बीत चुकी थी। श्यामा के मन और मस्तिष्क पर शेख़ साहब ने कब्जा कर लिया था। इसलिए कराहट की आवाज़ सुनी तो उसने तुरंत शेख़ साहब के कमरे की ओर देखा। कमरे में शेख़ साहब बार-बार उठते थे और लेटते थे। उन्होंने तुरंत रामकृष्ण को जगाया और कहा, 'देखिए तो शेख़ साहब की तबियत कुछ अधिक ही खराब हो रही है। वह बार-बार उठते हैं और लेट जाते हैं।'

रामकृष्ण जी ने तुरंत पैर में चप्पल डाली और दूसरे ही क्षण उनके कमरे में पहुँच गए। शेख़ साहब कराह रहे थे। रामकृष्ण को देखकर दर्द भरी आवाज़ मे बोले, 'लाला साहब ! आज का सूरज नहीं देख पाऊँगा।'

रामकृष्ण जी ने उन्हें लिटा दिया, 'पूछा दर्द कब से हो रहा है?'

शेख़ साहब ने धीरे-धीरे उत्तर दिया, 'दर्द परसों से हो रहा था लेकिन आज बहुत तेज़ हो गया है। मैंने अपने खाने-पीने का ध्यान नहीं रखा।'

रामकृष्ण ने कुछ भी नहीं सुना, बोले, 'चुपचाप लेट जाइए। श्यामा आकर आपका पेट सेंक देगी। मैं डॉक्टर को बुलाकर लाता हूँ।'

तब तक श्यामा आ चुकी थी। उसके हाथ में गरम पानी की बोतल थी। बोली, 'हाँ, आप डॉक्टर को बुलाइए। मैं तब तक उनका पेट सेंकती हूँ। मेरे पास सब तरह की दवाईयाँ हैं। मैं पेट दर्द की दवा भी उन्हें देती हूँ।'

रामकृष्ण जी अब तक जा चुके थे और श्यामा पानी में पेट दर्द की दवा घोल रही थी। दो क्षण बाद, 'शेख़ साहब दवा पी लीजिए। डॉक्टर अभी आ जाएँगे, तब तक आपका दर्द भी कम हो जाएगा।'

और सचमुच दवा पीकर कुछ ही क्षणों में शेख़ साहब ने शांति महसूस की और बोले, 'लगता है बहन, तुमने मुझे बचा लिया।'

श्यामा हँस प ी। जब तक वह उत्तर दे डॉक्टर आ चुके थे। उन्होंने दोनों को आश्चर्य से देखा और बोले आप सब दोस्त हैं।'

रामकृष्ण बोले, 'हम सब एक कस्बे में रहते हैं। आप पहले देखिए दर्द कैसा है?'

डॉक्टर ने ब ी अच्छी तरह से शेख़ साहब को देखा। फिर बोले, 'घबराने की कोई बात नहीं है। दवा मेरे पास है। एक-एक घंटे में देते रहिए और लाला जी आप मेरे साथ चलिए। मैं मालिश करने की एक दवा और दे दूँगा। सवेरे तक सब ठीक हो जाएगा। बाहर आकर खाने-पीने का ध्यान नहीं रखते आप लोग।'

रामकृष्ण ने जोर का ठहाका लगाया। शेख़ साहब धीरे-धीरे हँसने लगे।

और सचमुच उस दिन शाम को शेख़ साहब के कमरे में वे ठहाके लगे कि वे होटल की सारी मंजिलों में गूँजते रहे और यात्रियों को गुँजाते रहे।

अगले दिन उन सब को एक ही गा ी से आगे जाना था। शेख़ साहब ने तीसरी श्रेणी का टिकट लिया था और रामकृष्ण ने दूसरी का। उन्होंने शेख़ साहब से बहुत कहा, 'आप हमारे डिब्बे में चलिए न।'

शेख़ साहब ने अत्यन्त विनम्रता से उत्तर दिया, 'लाला साहब मैं बिहार-शरीफ में उतरूँगा। शायद फिर भेंट न हो सके। इसलिए एक बात कहना चाहता हूँ।'

'क्या !'

'तुम्हारी दुकान में आग मैंने ही लगाई थी।'

'जानता हूँ शेख़ साहब।'

'और मैं आपको मार डालना चाहता था।'

'यह भी जानता हूँ शेख़ साहब' रामकृष्ण ने हँसते हुए जवाब दिया।

शेख़ साहब बोले, 'पर शायद आप यह नहीं जानते कि शेख़ असदुउल्लाह खाँ अब तुम्हारा सबसे प्यारा दोस्त और सबसे अज़ीज़ भाई है।'

रामकृष्ण गंभीर हो आए, बोले, 'सब कुछ जानता हूँ शेख़ साहब। वह रात कैसे भूलूँगा? उसी रात मैं जान सका कि शैतान के भीतर शिव भी छिपा बैठा है।'

और एक क्षण रुक कर उन्होंने अपना हाथ आगे बढ़ाया, 'अब तुम मुझे अपना ही समझना शेख़ साहब।'

तभी गा ी ने सीटी दी और शेख़ साहब ने मुस्कुरा कर हाथ थामा और कहा, 'सलाम भाईजान, सलाम भाभीजान।'

उत्तर में श्यामा मुस्कुराई और हाथ हिला दिया। उसकी वाणी रुँध आई थी। शेख़ साहब तेजी से अपने डिब्बे की ओर बढ़ रहे थे। उनकी आँखों में भी आँसू डबडबा रहे थे।

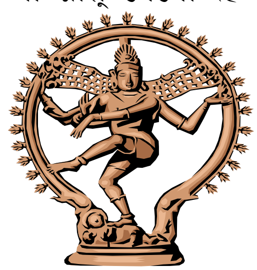

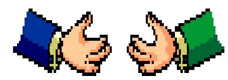

शब्द चहके सवेरा लिये

सुभाष ऋतुज

दीप ऐसे जलाओ बुझें ही नहीं।
एक युग हो चुका है अँधेरा हुये,
द्वेष के खंडहर में बसेरा लिये।
गीत ऐसा रचो मित्रवर काव्य तुम,
जिसका हर शब्द चहके सवेरा लिये।
ओ चितेरों सुनो आज के चित्र में,
रंग ऐसे भरो जो उ ें ही नहीं।
भेंट करते जो फूलों के उपहार तुम,
झेलते किसलिए शूल के वार तुम।
सत्य ही कह रही आत्मा, तो सुनो,
मन बंसुरिया के मीठे करो राग तुम।
भाव पतझ के पत्तों-से नीचे गिरे,
इतना ऊँचे उठाओ गिरें ही नहीं।
देश सुन्दर भवन था हमारा कभी,
और था तीनों लोकों से न्यारा कभी।
व्यर्थ भ्रम की दरारें प ी ढ़ह गया,
टुक े-टुक े हुआ भाईचारा तभी।
हर गली में अलख प्रेम, सदभाव की,
संत बन कर जगाओ बँटें ही नहीं।

स क पर
ईश्वर के बारे में बहस

विष्णु नागर

एक भौतिकशास्त्री स्टीफन अनविन ने वैज्ञानिक रूप से यह साबित करने के लिए कि ईश्वर है या नहीं है, ईश्वर के अस्तित्व तथा अनस्तित्व के बारे में अभी तक के सभी तर्क और प्रमाण जुटाए। फिर उन्होंने भविष्य की घटनाओं को जानने में प्रयुक्त गणितीय बायस सिद्धान्त की कसौटी पर उन सभी प्रमाणों-तर्कों को कसा। उनका निष्कर्ष है कि ईश्वर होने की संभावना ६७ प्रतिशत तक है।

– एक समाचार

मैंने उसे कभी नहीं देखा
इसलिए मैं ईश्वर पर विश्वास नहीं करता
अगर वह चाहता होता कि मैं उस पर यकीन करूँ
तो निश्चित रूप से वह मेरे पास आता
मेरे दरवाज़े पर दस्तक देकर कहता 'यह मैं हूँ'
अगर फूल, पे , पहा , सूर्य और चाँद ही ईश्वर हैं
तो मैं उसे ईश्वर क्यों मानूँ?

– फर्नान्दो पेसोआ (पुर्तगाली कवि)

क्या ईश्वर पृथ्वी से दुष्टवृत्तियों का विनाश करना चाहता है मगर इसमें समर्थ नहीं है?
तो वह सर्वशक्तिमान कैसे हुआ !
वह तो अपकारी हुआ।
तो क्या वह समर्थ है और दृढ़ संकल्प भी?
अगर ऐसा है तो इस दुनिया में इतनी सारी दुष्टवृत्तियाँ आ कहाँ से जाती हैं?
क्या वह न तो समर्थ है और न इच्छुक?
तो फिर हम उसे ईश्वर मानें ही क्यों?

– एपिकरस (ग्रीक दार्शनिक)

x x x x x x x x

उनमें बहस चल रही थी।

एक कह रहा था कि ईश्वर है। दूसरा कह रहा था कि ईश्वर नहीं है।

बहस नई नहीं थी। हमारी परंपरा में जहाँ-तहाँ इस तरह की बहसें मौजूद हैं। फिर भी किसी भी बारे में, कभी भी, दो लोगों में बहस तो हो ही सकती है। होनी भी चाहिए।

दोनों हार नहीं मान रहे थे। बहस दिलचस्प मो ले रही थी।

ईश्वर को न मानने वाले ने लगातार बोलना शुरू किया : 'मान लो मेरे न मानने के बावज़ूद ईश्वर है तो क्या वह मेरे मरने के बाद मुझे सिर्फ़ इसलिए नरक भेज देगा कि मैं उसे नहीं मानता? और क्या आप ऐसे ईश्वर को ईश्वर मानेंगे जो कि एक आदमी को सिर्फ़ इसलिए नरक भेज देता है कि वह उसे नहीं मानता? क्या आपकी कल्पना का ईश्वर इतना अनुदार हो सकता है?'

'तब ईश्वर मेरे बारे में फैसला किस आधार पर लेगा? क्या उन्हीं आधारों पर नहीं, जिन आधारों पर वह आपके बारे में निर्णय लेता है? यानी ईश्वर अगर है तो वह आप सारे भक्तों को तो स्वर्ग भेज नहीं देता होगा? वह भक्तों में फ़र्क अवश्य करता होगा - उनके कर्मों के आधार पर। इसी आधार पर वह आपमें से किसी को स्वर्ग में और किसी को नरक में भेजता होगा। यही मेरे साथ भी करेगा।'

'वैसे यह सही है कि कोई शक्तिशाली है और उसके सामने अगर कोई एक झुकता है मगर दूसरा झुकने से मना करता है तो शक्तिशाली झुकनेवाले को पसंद करता है, उसे नहीं जो कि नहीं झुकता।'

'मगर यह मनुष्य के लिए तो 'स्वाभाविक' है कि वह अपने सामने झुकने वाले को पसंद करे लेकिन ईश्वर के लिए यह स्वाभाविक नहीं हो सकता। उसके लिए तो यह क्षम्य नहीं माना जा सकता कि वह झुकने वाले पर तो मेहरबान हो और न झुकने वाले पर क्रुद्ध हो।'

'अगर ईश्वर में मनुष्य की कमजोरियाँ नहीं हैं तो फिर ईश्वर से डर कैसा? उसके होने या न होने की परवाह क्यों?'

'हो सकता है कि आप ठीक कह रहे हों कि मैं इस तरह ईश्वर के अस्तित्व से इंकार करके अपनी अहम्मन्यता दिखा रहा हूँ। इस सर्वशक्तिशाली को न मानना सिर्फ़ मेरा अहम् हो सकता है। चलिए मैं अहमी हूँ लेकिन उस 'सर्वशक्तिमान' के सामने हमेशा झुकनेवाले क्या हमेशा अपनी ज़िन्दगी में विनयशील ही होते हैं? शक्तिशाली और उसमें भी सर्वशक्तिशाली - के आगे झुकना तो हर कोई जानता है लेकिन जो कमजोर है उसके सामने कौन झुकता है? उसके सामने अपना अहम् कौन नहीं दिखाता? क्या ईश्वर-भक्त उस कमजोर के सामने झुकता है? तो फिर ईश्वर के सामने तो अहम् दिखाना तो अहम् है मगर कमजोर मनुष्य के सामने अहम् दिखाना अहम् नहीं? किसके आगे अहम् दिखाना ज्यादा बुरा है - ताकतवर के सामने या कमजोर के सामने?'

'लेकिन क्या आप मानते हैं कि मुझे आपका वह सर्वशक्तिमान ईश्वर इस बात की सजा देगा, मुझे नर्क में भेज देगा कि मैं इतना अहमी हूँ कि उसे मानता नहीं? क्या वह 'सर्वशक्तिमान' जो आपके अनुसार लाखों-करो ों वर्षों से सर्वशक्तिमान बना हुआ है - इसे मेरा 'अक्षम्य अपराध' मानेगा? क्या वह इतना 'कमज़ोर' और 'असुरक्षित' है कि मुझे इसकी सजा देगा?'

'और अगर वह इसे मेरा अपराध मानता है, मुझे सजा देता है तो मैं उसे ईश्वर ही क्यों मानूँ? फिर उसे मनुष्य ही क्यों न मानूँ?'

'इसलिए अगर ईश्वर है तो उसे इससे कोई फ़र्क नहीं प ने वाला है कि मैं या मेरे जैसे कुछ या ज्यादा लोग उसे नहीं मानते हैं क्योंकि वह तो सर्वशक्तिमान है। सूर्य को कोई न माने तो इससे सूर्य को क्या फ़र्क प ता है? क्या सूर्य उस न मानने वाले को धूप या प्रकाश देने से मना कर देता है? क्या वह ऐसा कर सकता है?'

'मैं जानता हूँ कि मैं ईश्वर को मानता नहीं तो वह मेरी गलतियों को माफ करने आएगा, इसका भरोसा नहीं कर सकता। मुझे तो अपनी गलती की सजा मिलेगी ही और गलती यहीं की है तो सजा भी यहीं मिलेगी। यह सजा कोई और नहीं देगा, यह समाज देगा, हालाँकि समाज कभी इतना अनुदार नहीं हो सकता कि हर गलती की हरएक को हर बार सजा जरूर दे। कुछ गलतियों को वह माफ भी करता है और हमें सीखने-समझने का मौका देता है। हम खुद भी तो अपने बच्चों को उनकी हर गलती की सजा नहीं देते। उन्हें समझाते हैं। फिर गलती होती है तो फिर समझाते हैं। अंत में क्रोध करने या सजा देने से पहले आत्मनिरीक्षण करते हैं कि कहीं हम ही गलत तो नहीं? कहीं हमारी ही 'गलत-सही' की समझ तो ग ब नहीं है? इसलिए हम नास्तिकों का भी ईश्वर है लेकिन वह यहीं है, वह मूर्त है, वह प्रत्यक्ष है, वह सक्रिय, वह मनुष्य है....।'

वे बहस करते रहे। मैं जानता था कि वे अंत तक असहमत रहेंगे। न तो आस्थावान पराजित होगा न तर्कवान। एक के लिए अपनी आस्था ही सर्वोच्च है; दूसरे के लिए अपना तर्क ही सर्वोच्च है।

ज़िन्दगी

मधुप शर्मा

क्या यह ज़िन्दगी है !
यह क्या ज़िन्दगी है !!
शायद, यह भी ज़िन्दगी है,
या, यही ज़िन्दगी है,
अब, यही ज़िन्दगी है।

नाटक की नौटंकी

अगस्त्य कोहली

पिछले कुछ दिनों से मेरे मन में एक नई योजना सज-सँवर रही थी। स्वदेश से इतनी दूर, यहाँ अमरीका में भी मैंने भारतीय संगीत और नृत्य के कई कार्यक्रम देखे हैं, लेकिन कोई भी भारतीय नाटक नहीं देखा। अमरीका में रहते हैं तो क्या हुआ, सोचा हिन्दी में एक नाटक का मंचन होना चाहिए। लेकिन नाटक के मंचन के लिए तो मंच सजाना प ता है, सिर्फ़ योजना के सजने-सँवरने से क्या होगा। और सबसे पहले तो एक नाटक ढूँढ़ना होगा। फिर कुछ अभिनेता-अभिनेत्रियों को जुटाना होगा। वेश-भूषा इत्यादि भी.... इन सब में तो खर्च भी काफी हो सकता है।

मैं अपने कुछ मित्रों से यूँ ही बात छे बैठा। मन में शंका थी कि यहाँ विदेश में देसी नाटक किया भी जा सकता है या नहीं। जिन चीज़ों की हमें आवश्यकता प ेगी, वे यहाँ उपलब्ध भी होंगी क्या?

'क्यों, ऐसी क्या चीज़ है जो अमरीका में नहीं, केवल दिल्ली में ही मिलती है?' रमेश जी को मेरी बात रास न आई।

'छुट-पुट चीज़ें ही हैं', मैंने कहा, 'जैसे मान लीजिए कि हम राम-कथा पर नाटक करने की कोशिश करें। अब राजा दशरथ का सिंहासन कहाँ से आएगा? चलिए कुर्सी पर चद्दर ओढ़ा लेंगे, पर देसी मुकुट कहाँ से लाएँगे? और विश्वामित्र का कमंडल? जटाएँ और दाढ़ी?'

'दाढ़ी तो भई रुई की बन जाती है।' वे बोले।

'हमें विश्वामित्र की दाढ़ी चाहिए रमेशजी, सैण्टा क्लौज़ की नहीं! रुई से बात नहीं बनेगी।'

पर जब तक यह निश्चित नहीं होता कि नाटक कौन-सा करना है तब तक इन सब बातों पर बहस करना व्यर्थ है।

'अमरीका में सब कुछ मिल जाता है। देखो, तुम यहाँ के पुस्तकालय में चले जाओ। हिन्दी की किताबें तो छो ो, तुम्हें हिन्दी की फ़िल्में भी मिल जाएँगी। कल ही तो लाया हूँ मैं शोले देखने के लिए।' रमेश जी इस घमंड से कह रहे थे - जैसे पुस्तकालय उनका अपना ही हो। तो मैं पहुँचा शहर के मुख्य पुस्तकालय में।

रमेश जी झूठ नहीं कह रहे थे। हिन्दी की पुस्तकें भी थी और फ़िल्में भी। वरन् पुस्तकें कम, फ़िल्में ही अधिक थीं। हिन्दी का नाटक तो मुझे एक भी नहीं मिला। हमारी नाट्य अभिलाषाओं को बहुत ब ा झटका लगा। नाटक ही नहीं मिलेगा तो मंचन किसका होगा? अकस्मात् एक विचार कौंधा, जैसे स्वयं नटराज ने कृपा की.... विश्वविद्यालय जाना चाहिए, वहाँ अवश्य ही ज्यादा पुस्तकें होंगी। पर न तो मैं विश्वविद्यालय का छात्र हूँ, न वहाँ पढ़ाता हूँ। जब उस संस्था से अपना कोई नाता ही नहीं तो उस संस्था का पुस्तकालय मुझे क्यों झेलेगा? तो मैंने एक फोन घुमाया अपने मित्र ऋतुराज को। स्नातकोत्तर डिग्री की पढ़ाई कर रहा है। उसे तो खुली छूट है पुस्तकालय से मनचाही संख्या में पुस्तकें लेने की।

'भइया, कुछ किताबें चाहियें तुम्हारे पुस्तकालय से। मदद कर सकोगे मेरी?'

'हाँ, हाँ क्यों नहीं।' ऋतुराज बोला, 'किताबों का नाम बताओ।'

मुझे कहाँ कोई नाटकों के नाम कंठस्थ थे। थो ी देर सोचने के बाद मैं बोला, 'बचपन में एक बार 'कबिरा ख ा बाजार में' नाम का एक नाटक देखा था। कुछ खास याद नहीं, बस यही याद है कि अच्छा लगा था। देखना मिल सके तो....'

कुछ दिनों बाद जब ऋतुराज से भेंट हुई तो वह किताब हाथ में लिए ख ा था, बोला 'तीन हफ्तों के लिए निकलवाई है, बीस तारीख तक लौटा देना।'

लगने लगा कि बात बन गई। अब ठाठ से नाटक पढ़ेंगे और मंचन की तैयारी करेंगे। पर जैसे-जैसे नाटक आगे चला, मुझे खुद ही रमेश जी से कही बातें याद आने लगीं। कबीर का झोप ा कैसे सजाएँगे? जुलाहों की बस्ती? और महंत की चाँदी की पालकी? सोने का लोटा? काशी के घाट, सिकंदर लोधी का लश्कर? वेश-भूषा और मंच सज्जा की दृष्टि से तो यह नाटक बहुत भारी प ेगा।

कुछ और नाटक पढ़ने होंगे। कुछ समकालीन मामला मिले तो ज्यादा अच्छा है। पैंट, कमीज़ पहनाई और ख ा कर दिया मंच पर। बहुत सारी समस्याएँ स्वयं ही सुलझ जाएँगी।

तो हिन्दी साहित्य जानने-समझने वाले कुछ लोगों से चर्चा करके, नाटकों की एक सूची तैयार की। जब ॠतुराज से बात हुई तो वह बोला कि वह तो दो महीनों के लिए शहर से बाहर जा रहा है इसलिए मेरी किताबें नहीं निकलवा पाएगा। अब क्या करें भोलेनाथ, हम तो फिर लटक गए। इतने में ॠतुराज बोला, 'मेरी एक सहेली है यशोधरा। वह भी यहीं विश्वविद्यालय में पढ़ती है। मैं उससे बात कर लूँगा। उसे किताबों की सूची दे देना, वह तुम्हारा काम कर देगी।' जय शिव शंकर।

यशोधरा से जब मेरी बात हुई तो वह बोली कि इन दिनों वह विश्वविद्यालय के अस्पताल में काम कर रही है, इसलिए आजकल उसका मुख्य परिसर में आना-जाना नहीं होता। लेकिन पुस्कालय वालों से कहकर वह मेरे नाटक अपने अस्पताल के पुस्कालय में मँगवा लेगी। वहाँ से बहुत सुविधा से मेरे लिए वह किताबें निकलवा सकती है। किताबें आ जाने पर मुझसे सम्पर्क करेगी। विश्वविद्यालय की इस व्यवस्था ने मुझे बहुत प्रभावित किया - क्या कमाल का तंत्र है - यहाँ की पुस्तक वहाँ उपलब्ध हो जाती है।

कुछ दिनों बाद यशोधरा का फोन आया कि उसे पुस्कालय से सूचना प्राप्त हुई है कि किताबें अस्पताल पहुँच गई हैं। बोली कल जाकर ले आएगी। पर दो-तीन दिन तक जब मुझे कोई समाचार नहीं मिला तो मेरी बेचैनी बढ़ने लगी।

'. . . तो क्या आपको किताबें निकलवाने का समय मिल पाया?' मैंने यशोधरा से फोन पर पूछा।

'अरे, आप विश्वास नहीं करेंगे। परसों गई थी मैं अस्पताल के पुस्तकालय। जब मैंने उन्हें बताया कि मेरे लिए कुछ किताबें मुख्य परिसर से यहाँ आई हैं, तो उन्होंने बहुत ढूँढ़ा, पर उन्हें नहीं मिली। कल मैं पुस्तकालय से आई चिट्ठी लेकर दोबारा गई, तो वे बोले कि आप कह तो ठीक रही हैं, पुस्तकें होनी तो यहीं चाहियें, पर हैं नहीं। आप कहें तो हम एक बार फिर मुख्य परिसर से सम्पर्क करके पुस्तकें मँगवा लें? तो वहीं के वहीं, लगे हाथ मैंने एक बार फिर किताबें मँगवाने की अर्ज़ी भर दी। पुस्कालय वाले कह रहे थे कि हफ़्ते भर में किताबें आ जानी चाहियें।'

आभार व्यक्त कर मैंने फोन रख दिया। सोचा, इतना इंतज़ार किया है तो एक हफ़्ता और सही। चाहे विश्वविद्यालय का तंत्र कितना ही अच्छा क्यों हो, कभी-कभी ग ब तो कहीं भी हो सकती है। कुछ ही दिनों की बात है, नाटक मिल जाएँगे।

पर जब लगभग पन्द्रह दिन बीत गए और यशोधरा की ओर से कोई समाचार नहीं आया, तो मैंने उसे फिर फोन किया। इधर-उधर की कुछ बातें करके असल मुद्दे पर आया। 'तो मेरी किताबों की क्या खबर है?'

'मुझे क्या मालूम था कि मुख्य परिसर से किताबों को अस्पताल मँगवाने में इतनी समस्या होगी ! कुछ दिनों पहले मैंने पता किया था कि किताबें पहुँचीं हैं या नहीं, लेकिन पुस्कालय वालों को कुछ खबर नहीं थी। मैं सोच रही हूँ कि अगले एक-दो दिनों में मुख्य परिसर जा कर आपके नाटक ले आऊँगी। क्षमा कीजिएगा कि इतने छोटे-से काम में इतना समय लग रहा है।'

'अरे नहीं, कैसी बातें करती हैं आप !' मैं बोला . . . 'अपने काम के लिए आपको इतनी सिरदर्दी दे रहा हूँ, क्षमा तो मुझे माँगनी चाहिये।'

बुरा तो मुझे लग रहा था कि सिर्फ़ मेरे काम के लिए यशोधरा को अब मुख्य परिसर जाना प ़गा। लेकिन मेरा स्वार्थ प्रसन्न था, पुस्तकें मिल जाएँगी।

अगले शनिवार यशोधरा से फिर मेरी बात हुई। बोली, 'आपकी तीनों किताबें मेरे पास हैं, कल मुख्य परिसर गई थी, किताबें ले आई हूँ।'

मैं बहुत प्रसन्न हुआ, बोला 'यह तो बहुत अच्छी खबर सुनाई है आपने। यदि आपके पास अगले कुछ दिनों में खाली समय हो, तो क्यों न हम शाम को मिलें। मैं किताबें भी ले लूँगा, और रात का खाना भी हम साथ-साथ खा लेंगे। मेरी ओर से आपको दावत।'

यशोधरा ने मुझे झट से टोका, 'एक मिनट बात तो पूरी करने दीजिए। खबर अच्छी तो है, पर पूर्णतः खुश-खबरी नहीं है।'

मुझे फिर शंका ने घेर लिया। अब क्या माया-जाल बुन रहे हो शम्भूनाथ?

'समस्या यह है. . . .' यशोधरा बोली, 'कि किताबें तो मैं ले आई हूँ लेकिन मुझे पुस्कालय से सूचना आई है कि किसी ने इन्हीं तीनों पुस्तकों पर रोक लगा रखी है।'

'रोक लगा रखी है? कैसी रोक?' मैंने पूछा।

'रोक, याने पुस्तकालय के किसी और सदस्य को भी ये ही किताबें चाहियें, इसलिए पुस्कालय ने इन्हें मुझसे वापिस माँगा है।' यशोधरा ने एक क्षण रुककर फिर बात आगे बढ़ाई, 'मेरा अनुमान है कि यह रोक मेरी ही लगाई हुई होगी। जब दूसरी बार मैंने अस्पताल से किताबें मँगवाई थीं, मुझे लगता है कि मेरी वही अर्ज़ी अब जाकर मुख्य परिसर पहुँची है, इसलिए पुस्तकालय मुझसे किताबें वापिस माँग रहा है।'

'यदि सचमुच ऐसा है, तो यह तो बहुत मज़ेदार बात होगी।' मुझे हल्की-सी हँसी आने लगी थी।

'होगी तो।' यशोधरा भी हँसी, 'और काम भी आराम से निपट जाना चाहिए। किताबें साथ लेकर जाऊँगी, उनसे पूछकर कि रोक किसकी लगवाई हुई है, हो सका तो लगे हाथ वापिस ले आऊँगी। लेकिन अगर सचमुच किसी और ने भी यही किताबें निकलवाने की कोशिश की है, तो फिर तो कुछ समय और लगेगा।' महादेव तेरी लीला !

बहुत ज्यादा इंतज़ार नहीं करना प ा। अगले ही दिन यशोधरा का फोन आया। शायद थो ी खीजी हुई थी, आवाज़ में गुस्सा झलक रहा था। कहने लगी, 'आज फिर मुख्य परिसर गई थी पुस्तकें लेकर. . . .लेकिन इन लोगों से मैं तंग आ गई हूँ।'

'क्यों क्या हुआ?'

'मूर्खता की भी हद होती है। मैंने उन्हें पुस्तकें लौटाई और कहा कि मेरा अंदाज़ है कि मेरी ही अर्ज़ी के कारण इन किताबों पर रोक लगी है, तो पुस्तकालय के कर्मचारी बोले कि ऐसा हो तो सकता है। मैंने उनसे पूछा कि क्या वे देख कर बता सकते हैं कि रोक किसकी ओर से लगाई गई है, तो उन्होंने साफ-साफ मना कर दिया।'

'मना क्यों कर दिया?' मुझे तो जैसे किसी सरकारी दफ़्तर की गन्ध आने लगी।

'बोले सुरक्षा और व्यक्तिगत गोपनीयता संबंधी नियमों के कारण।'

'तो फिर क्या हुआ?' मैंने पूछा।

'होना क्या था, किताबें लौटा कर चली आई।' यशोधरा के स्वर की खीज में अब कोई दुराव नहीं था।

'तो अगर वे आपको भी नहीं बताएँगे कि जिन किताबों पर संभवतः आप ही ने रोक लगाई है, वे अब उपलब्ध हैं, तो फिर आप उन किताबों को कैसे ले पाएँगी?'

'मैंने भी उनसे बिलकुल यही पूछा', वह बोली. . . .'अब जब कि ये किताबें पुस्तकालय में उपलब्ध हैं, वे उस व्यक्ति को संदेश भेजेंगे जिसने इन पर रोक लगवाई है। यदि यह रोक मेरी ही लगवाई हुई है, तो मुझे पुस्तकालय का यह संदेश जरूर मिलेगा। और उस संदेश के मिलने के बाद मैं दोबारा पुस्तकालय जाकर आपके नाटक प्राप्त कर सकूँगी।'

बेचारी यशोधरा ! कहाँ फँसा गया ऋतुराज इसे ! पर कम से कम वह मुझसे नाराज़ नहीं थी। उसकी अपनी नज़र में, इस सारी परेशानी का कारण इस पुस्तकालय का महान तंत्र था, मैं या ऋतुराज नहीं। भगवान ही जाने यह नाटक कभी हो भी पाएगा या नहीं। क्या पता ये पुस्तकें कभी हाथ लगेंगी भी या नहीं। भारत हो या रमेश जी का चहेता अमरीका, सरकारी दफ़्तर हो या अत्याधुनिक विश्वविद्यालय का चमकता पुस्तकालय. . . .कब, कौन, कहाँ किस चक्कर में फँस जाएगा, कौन बता सकता है !

पर भगवान शिव की महिमा अब धीरे-धीरे मेरी समझ में आने लगी थी। भारतीय परम्परा में नाटक के सदा ही दो अंग रहे हैं - नाट्य और नृत्य. . . .और यह नटराज की ही लीला है जो एक नाटक करने के चक्कर में हमें ऐसा नचा रही है।

सोचता हूँ कि क्या नाटक करने का शौक पाला था मैंने - सृष्टि के इस महामंच पर अपनी नौटंकी तो सदा ही चलती रहती है, तो क्यों न इस नौटंकी के निर्देशक महादेव से ही पूछा जाए कि कौन-सा नाटक होना है और उसमें मेरी क्या भूमिका है, हे महासूत्रधार?

पापा ऐसे नहीं हैं

सुधा गोयल

उनका मन हुआ कि आज देवदत्त की गलतियों और नासमझियों पर प` पर्दों की चिन्दी-चिन्दी कर बहू-बेटों, बेटी-दामादों, नाते रिश्तेदारों के आँगन में उ ा दें। उसे सबके सामने निर्वसन कर दें। उसकी देह से शराफत का एक-एक वस्त्र नोंच कर फेंक दें और कहें - लो देखो इस कुरूप और कोढ़ी पुरुष को। यह भे िया है। इसके पूरे जिस्म पर दाँत और आँखें हैं। ये औरत को मात्र गरम गोश्त समझता है। सत्तर साल की आयु में भी इसने अपने दाँत पैने कर रखे हैं। तुम सब आओ इसकी आँखें फो दो, दाँत तो दो। इसे लहूलुहान कर दो। मैंने तुम सब की ख़ातिर इसके जब` नहीं तो` क्योंकि हमेशा रिश्तों के कठघरे में ख ी रही हूँ।

नफ़रत का सैलाब उनकी शिराओं को उद्वेलित करने लगा। उनका अपना देवदत्त, जिसे लोक-दिखाबे के लिए अपना मानती रहीं या मानने को विवश होती रहीं, जिसके बच्चों की माँ बनीं, जिन्हें अपना लहू पिला कर पाला - आज सारे रिश्ते कितने बेमानी हैं। अपने-अपने स्वार्थ की धरातल पर ख` हैं। विगत करीबन पचास सालों से अपनी नफ़रत को ही पालती-पोसती आई हैं।

औरत या तो प्यार करती है अथवा नफ़रत। उन्हें ताज्जुब होता है कि अपने जीवन का स्वर्णिम काल उस व्यक्ति के साथ एक छत के नीचे रह कर गुज़ार दिया जिसे कभी चाहा ही नहीं। और उस व्यक्ति ने भी उन्हें तन ढ़कने के लिए वस्त्रों जैसी अनिवार्यता से अधिक नहीं समझा। वे देवदत्त के लिए उनकी काली करतूतों पर मात्र पर्दा बन कर रह गईं।

हाँ वे बहुत बार कठघरों में कैद रही हैं। यही सोचकर कि दुनिया क्या कहेगी? बेटे-बेटियाँ कैसे ब्याही जाएँगीं? देवदत्त उनकी इसी चुप्पी को भुनाते रहे और वे कफ़न लपेटे मुर्दे-सी प ी रहीं। देवदत्त उनकी छाती चीरकर लहू पीते रहे।

पूरे अ तालीस साल हो गए। कुछ भी तो नहीं बदला। सब कुछ वैसा ही है। वही कफ़न, वही देह। देह में सडांध फैले इससे पहले वे अपनी देह से कफ़न नोंच कर फेंक दें और जीवित हो उठें। जिनके लिए मुर्दा रहीं वे सब अपने-अपने घरों में जश्न मना रहे हैं और वे पद-दलित होने के घाव सहला रही हैं।

'पापा ऐसे नहीं हैं मम्मी। आप अभी तक पापा को नहीं समझ पाईं।'

बच्चे समझाते उन्हें। तब वे कितना खिसिया जातीं। अपनी देह से बहते लहू की बूँदें आप पी जातीं। ज़मीन पर गिरने न देतीं। पिटती रहतीं, पति की ऐय्याशी झेलती रहतीं। बेटे-बेटी उनके लिए बुज़ुर्ग बन जाते और वे एक नादान किशोरी -

'प्लीज़ मम्मी थो ा एडजस्ट करो।'

ढ़ेरों बदली उनके चेहरे पर उम आतीं। आँखों में ढ़ेरों धुँआ भर जाता। सहना उनकी नियति बन गया। हाथ तो ा गया तो दर्द से कराहते सबसे यही कहा - 'रात के अँधेरे में दिखाई नहीं दिया। बाथरूम में स्लिप हो गई।' सब ने सच मान लिया।

मुँह पर देवदत्त की लात खाई और जब ा तु ाया तो नल का हत्था लगने का बहाना बनाया। सीढ़ियों से धक्का दिया देवदत्त ने। बच गईं वे। मात्र चार टाँके सिर में आए। यहाँ भी वे स्वयं गिरीं। एक बार तो देवदत्त उनका सौदा कर आए। भाईयों को पता चला और वे आकर लिवा ले गए। कितने दिन - मात्र पन्द्रह दिन। फिर इसी काल-कोठरी में आना प ा।

परत-दर-परत एक क़ातिल को बचाती आईं। उसका साहस बढ़ता गया। दो-चार तमाचे, पीठ पर एक-आध लात का प्रसाद अक्सर ही मिलता रहा। वे मरती रहतीं और हर सुबह फिर जी उठतीं उन कोख-जायों के लिए जिन्हें जन्म देना उनकी मजबूरी बन गया।

पुत्रों को पालती जातीं और सोचतीं - 'क्या पता इनकी ज़ुबान में विष होगा या अमृत। कहते हैं जैसा बीज होता है वैसा ही फल आता है। पता नहीं ये अमरबेल हैं या विषबेल, लेकिन सींचना तो उन्हें प`गा ही। घरवाले कहेंगे - डायन अपने ही बच्चों को खा गई।'

हाँ, अब वे कफ़न उतार कर सीधी ख ी हो गई हैं। ये कफ़न भी उन्होंने अभी चार दिन पहले ही उतारा है, जब देवदत्त ने मुष्टिका प्रहार कर उनकी आँख फो नी चाही थी। एक मुक्का तो वे किसी प्रकार सह गई थीं, लेकिन दूसरा वार नहीं होने दिया। जाने कहाँ से हिम्मत आ गई और देवदत्त का हाथ कस कर पक लिया। उन्होंने छु ाने की कोशिश की तो अपने दाँतों से बाँह पर ज़ोर से काट दिया। खून बह निकला। विवश देवदत्त अपना हाथ छु ाकर वहीं बैठ गए और फिर तो वे जैसे रणचंडी बन गईं। पैर से चप्पल निकाल खूब धूल पूजा की। सारा जोश दफ़न हो गया देवदत्त का। वे उन्हें वही सावित्री समझते रहे जो उनकी मार खा कर द्वार पर प ी सूकरी-सी कूँ-कूँकर दुम हिलाया करती थी।

उन्होंने देवदत्त का एक-एक सामान निकाल कर उनके ऊपर फेंक दिया। अपने चू ी-बिछुए भी उतार कर फेंक दिए। चींख प ीं वे - 'जा निकल जा यहाँ से अब कभी दुबारा शक्ल न दिखाना। सोच लूँगी विधवा हो गई। आदमी मर जाता है तो क्या औरतें जीती नहीं हैं? मैं भी जी लूँगी। रोज-रोज के रोने से अच्छा है एक बार रो लूँ।'

इतने अपमान के बाद देवदत्त रुके नहीं। झाग छो ते बाहर निकल गए। उनके जाने के बाद कटे पे -सी गिर प ीं। अनायास ये सब क्या हो गया। उनमें इतनी हिम्मत कहाँ से आ गई। अ तालीस साल की जमी बर्फ़ पिघली भी तो इस तरह, लेकिन उन्हें पछतावा नहीं हुआ। यदि वे शुरू में ही देवदत्त को अपने जीवन से बुहार देतीं तो इतना तनाव न झेलतीं। उन्हें लगा कि अब वे खुलकर साँस ले सकेंगी। गलत और सही की सिर पर लटकी तलवार तो नहीं रहेगी। जाएँ कहीं भी। देखें इस बुढ़ौती में कहाँ ढ़ौर मिलती है? अपने पैसे का ब ा अभिमान है। अब पैसे को ओढ़ें-बिछाएँ।

वे स्वयं इस उम्र मे कहाँ कमाने जाएँगी। एक हिस्सा तो किराये पर उठा हुआ है ही, अपने लिए एक कमरा रख कर शेष घर भी उठा देंगी। समय काटने के लिए हाथ की सिलाई-कढ़ाई सिखानी शुरू कर देंगी। देखा जाएगा। सोचेंगी आराम से कि कहाँ से शुरुआत की जाए।

लेकिन विगत चार दिन से जीवन के अ तालीस साल के एक-एक पृष्ठ को बाँचती रही हैं। जब देवदत्त के साथ ब्याह कर आईं तो लगा जैसे समतल ज़मीन पर चलती-चलती एक अंधे कुएँ में गिर गई हैं। रूखी रोटी और चटनी, नमक, हरी मिर्च और प्याज - दोनों समय यही भोजन। दाल-सब्ज़ी का पता नहीं, दूध, घी के दर्शन तो और भी दुर्लभ। चीकट गंदे, जूँ भरे कप - वे जिसके पास से गुज़रतीं या बैठतीं - एक अजीब-सी गंध उन्हें घेर लेती। मितली आने लगती। देवदत्त को भी इसी रूप में पातीं। उनका मन होता कि देवदत्त के गंधाए कप ों को धोकर साफ कर दें, लेकिन धोने के लिए भी तो साबुन चाहिए।

धीरे-धीरे उन्हें पता चला कि कर्ज़ में डूबा सारा घर और देवदत्त को सुपरवाइज़र के रूप में मिले ढ़ सौ रूपयों से किसी प्रकार घर के दस प्राणियों को रूखी-सूखी ही मिल पाती थी जिसमें से पच्चीस रुपये ब्याज के भी चले जाते थे।

'हे भगवान, पिता ने कहाँ भेज दिया? क्या देखा देवदत्त में, इस घर में? इतनी जल्दी घर से धक्का क्यों दे दिया? अब उन्हें जाकर क्या बताऊँ?

नहीं बताया उन्होंने। इसी परिवार को अपनी नियति समझ स्वीकार किया और स्वयं सिलाई मशीन लेकर बैठ गईं जिससे घर की स्थिति में सुधार हो सके। वे रोईं नहीं, तब भी नहीं जब देवर भाभी को एक बिस्तर पर सोए देखा। अपनी इस हरकत पर न देवदत्त शर्मिन्दा हुए न भाभी, बल्कि देवदत्त का रसिया रूप और भी खुलकर सामने आने लगा।

एक बार कृष्ण जन्माष्टमी पर शहर में झाँकी देखने गईं। परिवार के सभी सदस्य साथ थे। देवदत्त ने भी में साथ चलती एक भले घर की स्त्री की छाती ज़ोर से दबा दी। उस स्त्री ने देवदत्त का हाथ पक कर शोर मचा दिया। जब तक आस-पास के लोग कुछ समझ पाते देवदत्त एक परिचित दुकान में घुस गए और दुकानदार ने शटर गिराकर इनकी जान बचाई। वहाँ ख ी वे पानी-पानी हो गईं। उस स्त्री से क्या आँखें मिलातीं। पति के कुकृत्य पर क्रोध से पागल हो उठी थीं। घर लौट कर देवदत्त से इस कुकृत्य के विषय में भर्त्सना करने पर अपनी बाँह तु ा बैठी थीं।

फिर तो देवदत्त कभी किसी को घर लेकर आ जाते, कभी किसी को। वे उन्हें चाय-नाश्ता अथवा भोजन करातीं। स क चलते ओछी हरकतें करना देवदत्त का शुगल था। कई बार पिटते-पिटते बचे। वे उनकी हरकतें देख-सुनकर तंग आ गईं। उन्होंने समाज से स्वयं को काट लिया। न किसी के

घर जातीं न किसी को अपने घर बुलातीं। बाज़ार-हाट में निकलने का तो प्रश्न ही न था। मायके में से भाभी-बहन में से कोई भूले-भटके आ जातीं तो दिल धुक-धुक करता रहता। पता नहीं देवदत्त किसके साथ क्या हरक़त कर बैठें। उनकी कोशिश रहती कि देवदत्त के घर लौटने से पहले ही उन्हें विदा कर दें।

देवदत्त के मायके साथ आने पर भी वे घबराया करतीं। वे कब माँ-बाबूजी का अपमान कर दें, नहीं जानती थीं। माँ-बाबूजी उन्हें कितना भी देते लेकिन वे कमी निकालकर ही रहते। धीरे-धीरे मायके से भी स्वयं को काट लिया।

वक्त गुज़रता रहा। सब भाई-बहन ब े हो गए। घर की स्थिति सँभली। देवदत्त उन्हें लेकर शहर में रहने लगे। सोचा बला टली। शहर में रहकर कुछ तो सँभलेंगे, लेकिन हर तीसरे दिन गाँव उन्हें खींच लेता। यदि किसी कारणवश न जा पाते तो भाभी यहाँ आ जातीं। भाभी के बच्चे शहर में रह कर पढ़ने लगे। वे उनके चेहरों में देवदत्त को ढूँढ़तीं। देवदत्त की रसिक आदत के कारण जल्दी-जल्दी घर बदलने प े। आखिर तंग आकर एक मकान खरीद लिया।

देवदत्त की आदत न बदलनी थी सो न बदली। किसी के बेडरूम तक पहुँचना उनके लिए बहुत आसान था। कभी प्रसाद देने के बहाने, कभी अख़बार या मैगज़ीन लेने या देने के लिए अथवा कोई खास बात बताने के लिए। स्वयं तो किराये के मकानों में आराम से रहे नहीं, हाँ अपने घर में भी किराएदार आने के सप्ताह भर बाद ही दूसरा मकान ढूँढ़ने लगता।

बहुएँ आईं तो किसी न किसी बहाने बहुओं के चारों तरफ मँडराने का प्रयास करते। वे आ बनतीं तो मार खातीं। बहुओं की खातिर वे चुप रह जातीं। बेटे बहुओं को लेकर नौकरी पर चले गए तब उन्होंने शांति की साँस ली।

लेकिन उनके भाग्य में तो अशांति लिखी है। देवदत्त कभी बेटों के घर जाते तो आ बन वे भी चली जातीं। देवदत्त की दाल न गल पाती। बहुएँ शिकायत करतीं - 'मम्मीजी, पापाजी को समझाइए न, अंडरवियर पहन कर न घूमा करें, अपने कप े लॉन में न फैलाएँ, नौकरों से घर की बातें न करें। नौकरानियों को चाय-नाश्ता क्यों ऑफर करते हैं। अपना टॉयलेट क्यों नहीं इस्तेमाल करते? हमारे बेडरूम के टॉयलेट में क्यों जाते है?'

वे असहाय-सी असहज हो उठतीं। फिर खिसियानी हँसी हँस कर कहतीं - 'उनसे कुछ भी कहना व्यर्थ है। तुम्हारे ससुर कोई बच्चा हैं। तुम्हीं क्यों नहीं मना कर देतीं? मेरी मानो तो, आस-प ोस में यदि अपनी इज़्ज़त चाहती हो तो कुछ न कहना। दो-चार दिन सह लो किसी प्रकार।'

वे बहू का उतरा चेहरा और डबडबाई आँखें देख कर स्वयं में सिमट जातीं। अब क्या इन्हें समझाने की उम्र है? जिसे पूरी उम्र समझ नहीं आई, जो अपनी समझ से चलता रहा, उसे कौन समझाए?

एक बार छोटी बहू ने गा ी का दरवाज़ा खोलकर कहा -'पापाजी, आप पीछे बैठिए।'

बहू के कहने पर देवदत्त पीछे चले आए, लेकिन उन्हें अच्छा नहीं लगा। बाद में बहू ने सफाई दी - 'मम्मी, कोमल तो पापाजी से कुछ कहते नहीं। पापाजी के साथ बैठकर मैं कॉन्फिडेन्टलि गा ी नहीं चला सकती। कभी मेरे बाल उ कर पापाजी को छूने लगते हैं, कभी दुपट्टा खिसक जाता है, कभी बाँह छूने लगती है। ध्यान इधर ही लगा रहता है। अच्छा नहीं लगता।'

वे क्या ये सब समझती नहीं। हर बार वे हरएक की निगाहों में गिरी हैं। देवदत्त की हर गलती के लिए वे ही कठघरे में ख ी हुई हैं। स्वयं प्रश्न-चिन्ह बन गई हैं। देवदत्त के किसी भी कृत्य का उनके पास कोई उत्तर नहीं है। सब समझते हैं कि उनकी ही मूक सहमति है। अपना दिल खोल कर कब-कब कहाँ-कहाँ दिखाएँ।

इतना सब कुछ वे ज़ुबान से न बता पाएँ कि क्यों बेटे-बहू के पास जाना छो दिया। क्यों कभी मनुहार कर दामादों को नहीं रोक पाईं। क्यों किसी के घर आने पर उद्विग्न हो उठती हैं, न ढ़ंग से बातें कर पाती हैं और न सत्कार ही। उन्हें मालूम है कि मेहमानों के जाने के बाद फ़िज़ूलखर्ची पर कितना लेक्चर सुनना प ेगा। वे काग़ज़-कलम लेकर बैठ गई हैं। एक-एक घाव उघा ती जाती हैं, लिखती जाती हैं, ढ़ँकती जाती हैं। लिख चुकने पर स्वयं ही बाँचने बैठ जाती हैं। ये सब किन्हें पढ़ाऊँ - बहुओं को? दामादों को? विवेक झकझोरता है - नहीं। ये सब अतीत की बातें हैं। बहुएँ और

दामाद पराये घर के हैं। वे उनका दुख क्यों समझेंगे? उनके जीवन के उतार-चढ़ाव से उन्हें क्या मतलब? अपने ससुर के कृत्य जान कर सब उन्हीं को दोषी ठहराएँगे। नहीं किसी से कुछ नहीं कहना। जो सह लिया, सह लिया।

वे उन लिखे कागज़ों को फा रद्दी की टोकरी में डालने के लिए उठती हैं। तभी घंटी बजती है। वे द्वार खोलती हैं। कोमल और मुकुल ख` हैं। पीछे देवदत्त हैं। वे दरवाज़े पर ही माँ की भर्त्सना करने लगते हैं - 'मम्मी, पापा ऐसे नहीं हैं। इस उम्र में क्या ये सब आपको शोभा देता है।'

जैसे किसी ने चिता की आग को कुरेद दिया हो। भक्क से जल प ती है - 'और इस उम्र में ये शोभा देता है' - आँख के नीचे उतर आए खून की ओर इशारा करती हैं - 'जो मुझे ठीक लगा मैंने किया। तुम्हें इन्हें अपने पास रखना है, रखो अपने पास। मुझसे कोई मतलब नहीं।' और उन्होंने झट से दरवाज़ा बन्द कर लिया।

ग़ज़ल

जय चक्रवर्ती

दायरों में बँटी ज़िन्दगी
रास्तों से हटी ज़िन्दगी
जिसपे बैठे उसी की ज`
काटने में कटी ज़िन्दगी

साँस-दर-साँस साँसें बढ़ीं
किंतु पल-पल घटी ज़िन्दगी
मौत पर गर्व से भर उठी
सरहदों पर डटी ज़िन्दगी

हर तरह से सिया, पर रही -
बस फटी की फटी ज़िन्दगी
हादसे-हादसे-हादसे
हादसों से पटी ज़िन्दगी

आप को क्या कह कर पुकारें?

डॉ. सरला अग्रवाल

स क पर गुजरते सब्जी के ठेले के साथ सब्जी वाले की आवाज़ें आ रही थीं -'ताजा मटर लो, आलू, गोभी लो, नींबू, अदरक, पालक, हरा धनिया लो।'

अक्सर हमारे घर के सामने से सब्जी एवं फल वाले आते-जाते नहीं हैं, क्योंकि हमारी स क पर दूर-दूर पर बँगले हैं, इनमें भी अधिकांश कार्यालय हैं या फिर फौजी अफसर रहते हैं। इस कारण हमें सब्जी के लिए बाजार ही जाना प ता है।

उन दिनों मैं बीमारी से उठी थी, कमजोरी पूरी तरह से दूर नहीं हुई थी, सब्जी वाले की आवाज़ सुनी तो स्वयं को रोक नहीं पाई। सब्जी छाँट रही थी कि मुझसे सब्जी वाले ने पूछा, 'कहिए माताजी मटर कितनी तोल दूँ?'

'माता जी?' स्टैनगन से निकली इस गोली को अभी मेरे कान पूरी तरह बर्दाश्त भी न कर पाए थे कि हथगोला गिरा....पास के मकान से सब्जी लेने आई एक युवती बोली, 'नानीजी ! सब्जी ले रही हैं आप ! तबियत ठीक हो गई क्या?'

'नानीजी?' मुझे तो जैसे चक्कर से आने लगे। शीशा-ए-दिल को हमने सँभाल कर हाथों में ले लिया....क्योंकि नाज़ुक इतना है यह कि नज़र से जब गिरा, टूटा !

सब्जी-वब्जी लेना भूल कर मैं अंदर आ गई। प ोसिन की पुत्री भी ब ी अजीब है। दो-चार दिन पहले ही वे लोग पास के मकान में आए हैं। लगता है मेरी बेटी को इन्होंने घर की मालकिन समझा होगा। मेरी अस्वस्थता के दौरान वही घर का काम-काज सँभाल रही थी।

बेटी शोभा को भी शिकायत थी कि उसे प ोसिन की ल की 'मौसी' कह कर पुकार रही थी। 'क्या मैं मौसी-आंटी दिखती हूँ?' वह मुझसे पूछ रही थी।

शोभा बिन्दी अवश्य लगाती है। सम्भवतः इसी कारण कॉलेज में पढ़ने वाली उस बी.ए. की छात्रा को उसने घर की मालकिन समझ कर 'आंटी' और मुझे आंटी की माँ समझ कर 'नानी' कह दिया होगा। वह तो ठीक है, किन्तु क्या मैं 'माताजी' और 'नानीजी' की श्रेणी में आ गई हूँ? मन ने प्रश्न किया !

'मैं, जिसे कुछ दिन पूर्व ही मेरठ के महिला क्लब में सब युवा महिलाएँ अपने बराबर की आयु का समझती रही हैं। एक दिन मैं जब शोभा को अपने साथ पहली बार क्लब ले गई थी, तब सभी ने पूछा था, 'आपकी बहन है क्या ये?'

और जब मैंने शोभा को अपनी बेटी बताया तो सभी ब ी देर तक अविश्वास की दृष्टि से देखती रही थीं।

मन अवसाद और दुख से भर उठा। मैं दर्पण के सम्मुख जा ख ी हुई, क्योंकि दर्पण कभी झूठ नहीं बोलता। चेहरे पर झुर्रियों का नामोनिशान भी नहीं था। रंग भी पहले से कहीं निखरा-निखरा उज्ज्वल ही लगा। संभवतः दूध, फल और विटामिन के कारण, पर बाल ! मानों सन जैसे स्लेटी और दूध जैसे श्वेत !

आह ! महाकवि केशव की व्यथा आज मेरी महाव्यथा हो गई....

'केशव केसन असकरी, जस अरिहूँ न कराहि,
चन्द्रमुखी, मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहि।'

सच ही तो है, केवल बालों के सफेद होने से ही तो कोई बूढ़ा नहीं हो जाता। मन जब युवा है, जीवन के प्रति मोह है, उत्साह है, आकर्षण है और शरीर में चुस्ती-फुर्ती है तो 'नानी-दादी' की उपाधि कैसे दे रहे हो भाई?

अभी कल ही की तो बात है जब लोग हमारे घने , सुन्दर, काले और लम्बे केशों की प्रशंसा में रुबाइयाँ बोला करते थे....

'उस ज़ुल्फ़ का क्या कहना जो गोश पर लहराई
सिमटी तो बनी नागिन, फैली तो घटा छाई।'

तब मैं भी अपने केशों को भाँति-भाँति से सँवारा करती थी। कभी नागिन-सी लहराती लम्बी-लम्बी दो चोटियाँ बनाती, तो कभी ऊँचा-सा खूब ब ा गोल जू ा। अब सामने से सीधे सपाट बाल बना लेती हूँ और बीच में माँग निकाल कर कुत्ते की पूँछ-सी छोटी चोटी बना लेती हूँ, तो मैं बूढ़ी खूसट नज़र आने लगी हूँ इन लोगों को? अब क्या कहा जाये?

इन पुरुषों की मति की भी बलिहारी है ! इन्हें तो दूसरों की बीवियाँ बहुत सुंदर नज़र आती हैं, अपनी तो गँवार लगती हैं, कुरूप लगती हैं। अपनी पत्नी ब्यूटी सैलून में जाकर, बाल कटवाकर कर्ल करवाना चाहे या फ़ैदरकट करवाकर आधुनिका बनना चाहे तो घो े की तरह बिदक कर दुलत्ती मारने लगेंगे। मुँह से कहें या न कहें पर मौन शब्द होते हैं.... 'यह मुँह और मसूर की दाल?' पर ज़नाब ! ये बुद्धि पर इतना जोर नहीं डालते कि वे सुन्दरियाँ जो इनके नयनों में बसी हैं, इतनी आकर्षक आधुनिकाएँ हैं, उनके बालों में तेल पोत कर एक चोटी कर दीजिए.... फिर देखिए मज़ा ! वे कैसी नज़र आती हैं !

पिछले वर्ष की बात है, मैं अपनी एक सहेली के साथ अपनी पुत्री के कॉलेज के छात्रावास में पहुँची। अंदर बगीचे में वह अपनी सहलियों के साथ बैठी थी। हम जाकर बैठी ही थीं कि उसकी एक मित्र मेरी सहेली के सुंदर दाँतों की प्रशंसा करने लगी.... 'आंटी आपके दाँत तो ब े ही सुंदर हैं... दमकें दतियाँ ज्यों धुति दामिनी।'

मैंने भी ध्यान दिया.... दाँत वास्तव में ही एकदम पंक्तिबद्ध श्वेत और चमकदार थे। हँसतीं तो मानों बिजली गिराती थीं।

अपने दाँतों की प्रशंसा सुन कर पहले तो मेरी मित्र कुछ सकपकाईं फिर उन्होंने तुरन्त मुंह में हाथ डाला और दाँतों को बाहर निकालते हुए कहा, ' बेटा, तुम जिनकी तारीफ कर रही हो, वे दाँत नकली हैं। दाँतों की प्रशंसा अब दाँतों के डाक्टर की है, स्वाभाविक होते तो प्रकृति की होती।'

ल कियाँ उनकी सच्चाई एवं स्वाभाविकता के कारण संकोचवश हँस भी न सकीं। उसी समय एक और विस्फोट हो गया। ल कियाँ संभवतः हमें प्रसन्न देखना चाहती थीं। रंजना मेरी बगल में बैठी थी। वह ब ी ही आत्मीयता के साथ मुझसे बोली, 'मौसी आपके बाल तो अभी तक खूब काले और चमकदार हैं, हमारे देखिए अभी से ऐसे खुश्क, छितरे-छितरे-से डल हो गए हैं.... आप क्या लगाती हैं?'

यह बात इस बार मुझसे कही गई थी.... एक क्षण तो लगा कि वह जान-बूझकर मुझे लज्जित करने के लिए ही मेरे बालों के कालेपन और चमक की ओर इशारा कर रही है, पर उसका भोलापन देख कर मैं भी चुप न रह सकी, मुख से निकल ही गया कि 'गोदरेज से हेयर डाई किए हैं।' यह कुछ-कुछ उसी अंदाज़ में कहा गया जैसे पहले कप े धोने के साबुन का एक विज्ञापन आया करता था - 'नई सा ी है?'

'जी नहीं, सर्फ़ में धुली है।'

मुँह में हँसी भरी थी पर शिष्टाचारवश सोनू की सब सहेलियाँ हँस भी नहीं सकीं। प्रशंसा का गलत विषय चलने के कारण वे एकदम घबरा गईं, प्रशंसा उल्टी जो प गई थी, किंतु तभी हम दोनों सहेलियों के निर्बाध रूप से खिलखिलाकर हँसने पर वातावरण एकदम सहज हो उठा और वे सब भी खूब खुल कर हँस प ीं।

हमारे एक पूर्व प ोसी फौज में मेजर थे। उनके दो बच्चे थे, एक सात वर्षीय, दूसरा चार वर्ष का। परिचय होने पर उन्होंने सबसे पहले मुझसे यही प्रश्न किया - 'बताइए, आप हमसे क्या कहलवाना पसंद करेंगी? आंटी, दीदी, मामीजी, या मिसेज अग्रवाल अथवा सरला जी?'

'कुछ भी कहिए, जो आपको अच्छा लगे।' मैंने उत्तर दिया।

इस पर वह बोले, 'न बाबा आप बुरा मत मानियेगा, परंतु यह गलती अब हम दोबारा नहीं करेंगे। पहले हमारे साथ बहुत कुछ बीत चुका है, बात यह है कि पहले हम जहाँ पर थे, वहाँ पर यही ग ब ी हो चुकी है। हमने अपनी प ोसिन को अपने से ब ी समझ कर 'चाची' (आंटी) कह दिया। वह इस बात का इतना बुरा मान गईं कि उन्होंने हमारे यहाँ आना और हमसे बोलना ही छो दिया। आस-पास के लोगों से भी हमारी शिकायत की कि ये लोग स्वयं को युवा और उन्हें बूढ़ा समझते हैं। हमने तो यह 'पदवी' उन्हें अपने से ब ा मानकर आदर देने के लिए ही दी थी। हमें क्या फ़र्क प ता था। वह कह देती, बता देती तो अपने से छोटा मानकर उनका नाम लेना आरम्भ कर देते।

खैर, खूब हँसी आई हम सब को उनकी इस बात पर। मैंने कह दिया कि आप तो हमें 'आंटी' ही कहा करें। अपने को उम्र में छोटा मान लेने भर से ही कोई छोटा नहीं हो जाता। उम्र तो जो है वही रहेगी, फिर ऊपर से चाहे लोग हमें दीदी, भाभी ही कहते रहें, मन में तो ताई या चाची ही मानेंगे, इससे क्या लाभ?

जब बालक छोटा होता है तो वह शीघ्र ब` होने की कामना करता है, 'मइया कबहुँ बढ़ैगी चोटी'। अपने से ब` भाई-बहनों को देखकर उसे ईर्ष्या होती है. . . .शीघ्रताशीघ्र उसका कद बढ़े तो वह वस्तुओं तक स्वयं पहुँच पाए, किंतु ब ा होने पर वृद्धावस्था का भय उसे भयभीत कर देता है। राजा शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ ने अपनी युवावस्था में जब एक वृद्ध को देखा कि उसकी कमर झुकी हुई है, शरीर झुर्रियाँग्रस्त है, हाथ-पैर ल ख ा रहे हैं, इन्द्रियों में शैथिल्य छा गया है, तब उन्हें लगा कि यह सुंदर यौवनयुक्त शारीरिक सौष्ठव भी एक दिन समाप्त हो जायेगा. . . .इसी चिन्तन की गहराइयों में डूब कर वह एक दिन बुद्ध बन गए थे।

विज्ञान ने और चाहे जितनी उन्नति कर ली हो, मानव शरीर के किसी भी अंग के विकारग्रस्त हो जाने पर उनका प्रत्यारोपण कर दिया जा सकता हो, किंतु मानव कालजयी तो नहीं बन सका। वह प्रकृति के नियम को भी नहीं बदल पाया। उसी प्रकार रात होती है और फिर सुबह आती है, कहीं भी एक पल का भी उलट-फेर विज्ञान कर पाया है क्या? मनुष्य उसी प्रकार जन्म लेता है, ब ा होता है, युवा होता है और फिर वृद्ध हो जाता है। दाँत गिरने लगते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं। कुछ दिनों के लिए अप्राकृतिक साधनों से स्वयं को यौवनपूर्ण एवं आकर्षक बेशक बना लिया जाए, किंतु एक दिन तो ऐसा आना ही है जब जीवन में केशव कवि जैसी व्यथा सभी को झेलनी प ती है, किंतु आशावादी विचारधारा को अपनाते हुए हम तो अब भी यही कहेंगे. . . .

'हसरत पे उस मुसाफ़िरे बे-क़स की रोइए
जो थक के बैठ जाता हो मंज़िल के सामने।'

ऐसा न जाने क्यों है कि हम सब कुछ जानते और समझते हुए भी ऐसी गलतफहमियों में जीना चाहते हैं। कितने ही वर्षों के अनुभवों के कोश हमारे खातों में जमा क्यों न होते जाएँ, हम दूसरों की दृष्टि में युवा ही बने रहना चाहते हैं, जबकि होता ठीक इसके विपरीत है। इसी कारण हमें पग-पग पर निराशा का अथाह सागर उम ता हुआ दृष्टिगोचर होता है जो हमें लील लेने को तैयार रहता है।

पर सच तो सच ही है साहब, हमने मान लिया कि हम किसी की चाची बन गई हैं, किसी की ताई, किसी की नानी और दादी ! सच्चाई से, वास्तविकता से आँखें कैसे मूँद सकते हैं ! सूरज सदैव रोशनी और गर्मी देता है, मगर जो सूरज से भाग कर ठंड में ठिठुरे और अँधेरे में जा छिपे, उसके लिए सूरज भी क्या करे !

चंदा की चाँदनी में चाचा-चाची

भुवनेश्वरी पाण्डे

चंदा की चाँदनी में
चाची ने चाचा को चपत-सी लगाई थी
चाचा ने भी चाची के पीछे
यहाँ तक दौ लगाई थी
चाची ने चोटी में चमेली सजाई थी
चमेली की महक ने चाँदनी में
चाचा के मन में उमंग जगाई थी
उमंग देख चाची चाचा के पास आई थी
चाचा-चाची के चाँदनी चौक में मिलते ही
एम्बुलेन्स व फायरब्रिगेड आई थी
उनकी तेज बत्तियों ने चाँद की चाँदनी बुझाई थी
चाची चाचा को एक बात बताने से रुक न पाई थी
वो चाँदनी चौक मे प्यार का इज़हार करने आई थी
चंदा की चाँदनी में दिलजलों की ध कन रुक न जाये
एम्बुलेन्स व फायरब्रिगेड पीछे-पीछे चली आई थी
चाचा चाची की रोमांटिक अदा पर मर मिटे थे
हँस के चाचा ने अब चाची को चपत लगाई थी

* * * *

रविवार

डॉ. शंकर पुणतांबेकर

हमारा सबसे सुहाना दिन है रविवार जैसे सबसे खुशी की तारीख होती है एक। रविवार और एक तारीख में वसंत, वर्षा, शरद ऋतु समाये होते हैं जिनके लिए पूरा एक हफ्ता (एक दिन कम हो तो भी ऐसा ही कहा जाता है) अथवा पूरा एक महीना ग्रीष्म, हेमंत, शिशर भुगतने होते हैं।

रविवार एकसाथ मुक्ति है, बहार है, नवाबी है। संक्षेप में रविवार एक दिन का सुलतान है। कहने को सूर्य का वार पर सुलतान की ज़िन्दगी में यह बारह बजे उग सकता है या दिन-भर उगे ही नहीं।

मैं समझता हूँ दुनिया रविवार के दिन पैदा नहीं हुई। यदि हुई भी है तो पाँच-दस प्रतिशत ही। पच्चीस-तीस प्रतिशत दुनिया रविवार को पैदा न हुई हो पर यह ऐसी है कि जिसने रविवार पैदा किया है। दुनिया का शेष ब ा भाग ऐसा बदनसीब कि न तो रविवार को पैदा हुआ और जी-जान से मरखपकर भी न रविवार पैदा कर पाया। उसके लिए जैसा सोमवार-मंगलवार वैसा ही रविवार, रविवार के दिन पैदा हुई दुनिया के ठीक विपरीत जिसके लिए जैसा रविवार वैसा ही सोमवार-मंगलवार।

इस मायने में रविवार-शब्द, शब्द का अर्थ और अर्थ की ध्वनि में जीता है। शब्द समाज के निम्न वर्ग के लिए, अर्थ मध्यम वर्ग के लिए तो ध्वनि उच्च वर्ग के लिए हैं।

निम्न वर्ग के लिए रविवार मात्र-शब्द इस अर्थ में कि उसमें मुक्ति, बहार या नवाबी की ध्वनि नहीं है। समय के सात कदमों में से एक कदम। ध्वनि की बात दूर ऐसा अर्थहीन शब्द जैसा कि इसे मिठाई, खेल, उत्सव, मेला या योजना होता है।

दुनिया के कितने ही ऊँचे-ऊँचे शब्द तीन-चौथाई से अधिक की दुनिया के लिए मात्र शब्द हैं - कोरे शब्द। इनमें स्वतंत्रता, समता, न्याय, विकास, खोज, आविष्कार, खेल, उत्सव आदि-आदि हैं जो मानव की उन्नति के गौरवशाली इतिहास का डंका पीटते हैं।

स्वतंत्रता की चिकनी और चौ ी स क को कूटने में पसीना निम्न वर्ग बहाता हो, पर स्वयं वह चलता है फुटपाथ पर। इस स क पर विकास के घो े तेजी से दौ ते चले जाते हुए वह देखता है, सवार उसकी तरफ भूलकर भी नहीं देखता, जबकि इस घो े की खुराक - घास-चना वही पैदा करता है। आविष्कार के साथ वह भी गतिमान है, पर टायर के रूप में जिसे घिस जाने पर फेंक दिया जाता है।

गरीब के रविवार की एक झलक यहाँ प्रस्तुत है।

गरीब त के चार बजे पत्नी से कहता है, उठो मेरी रानी उठो। मैंने तुम्हारे लिए चूल्हे पर पानी गरम कर लिया है। उठो, हाथ-मुँह धो लो और मेरे लिए गरम-गरम चाय बना दो, तो मैं जाऊँ और अपनी ड्यूटी करूँ !

यह सुन पत्नी दुलाई में सिकु ती हुई बोलती हैं, कैसी जानलेवा ठंड है और तुम उठ गये इतनी जल्दी ! आज तो इतवार है ! नहीं जाओगे काम पर तो क्या पहा टूट प ेगा !

हाँ रानी, पहा ही टूट प ेगा। ये ब े लोग काम के दिन काम करें या न करें, पर इतवार को झूले में झूले बिना ये जी नहीं सकते। अब क्या बताऊँ तुम्हें ! हमारे इतवार क्या, सोमवार क्या सभी दिन बिजली के खंभों जैसे हैं जो एक समान होते हैं और सालों एक जगह ग े हुए दुनिया के लिए रोशनी, रफ़्तार और ताकत ढोते हैं।

पत्नी 'बाप रे बाप कैसी बर्छी चलाती ठंड है' कहती हुई उठती है और चाय के लिए चूल्हे की ओर बढ़ती है। पति भी उसके पास बैठ जाता है और हाथ तापता है।

आज तुम्हारा मालिक किस झूले में झूलेगा? पत्नी कुछ मुस्कुराते हुए ही पति से सवाल करती है।

गरीब ने किसी से सुना था - पढ़ेलिखे से कि ब े अपनी फुरसत का समय झूले में गुज़ारते हैं, मेले के झूले में। क्लब, स्टेडियम, थिएटर, पिकनिक, कॉन्फ्रेंस, रेस, महफिल, नुमाइश को वह मेले का झूला कहता था। बताया था खूब मजे से - हँसते-खिलखिलाते समय गुज़र जाता है इसमें। दुनिया भूल जाती है। यह भी कहा था, जानते यह झूला भी हम-आप जैसे गरीब ही चलाते हैं।

पत्नी ने पति से जब इस झूले की बात सुनी थी तो हँस प ी थी, कहा था, तब तो चुनावी पार्टियाँ भी झूले ही हैं, नहीं? चुनाव जीते कि पाँच साल झूलते और झूलते रहो।

तुम्हारा मालिक आज किस झूले में झूलेगा, पत्नी के इस सवाल पर पति कहता है, कोई भी झूला हो रानी, पंचवर्षीय योजना की महफिल का हो या विदेशी कुत्तों की नुमाइश का, हम गरीबों को क्या फ़र्क प ता है ! झूला चलाते हमें या तो ठिठुरना है या धूप में जलना या पानी में गलना है।

स्वतंत्रता, समता, न्याय, विकास आदि गरीब के लिए मात्र कोरे शब्द कैसे हैं इसे निम्न कथा और अधिक स्पष्ट करती है। मान लो कि मानव की उन्नति के ये गौरवशाली शब्द फल आम हैं।

आम फलों का राजा है, सो राजा ही इसे खा पाते हैं आम नहीं, वे जो आम पैदा करते हैं।

अब हमारे विकास का स्वरूप ऐसा नहीं है कि राजा को आम मिलता है तो आगे आम आदमी को भी आम मिले, बल्कि ऐसा है कि राजा को आम आम न मिले ऊँचा आम मिले, लंग ा नहीं हापुस।

खैर, मैं कथा पर आता हूँ। कथा खास लम्बी-चौ ी नहीं है, पर बहुत लम्बा-चौ ा कह जाती है, आम लम्बा-चौ ा।

एक राजा था और उसका एक राजकुमार था। आम चूसते हुए राजा अपनी रानी के साथ और राजकुमार अपनी माँ के साथ ब े मजे से रहते थे। एक दिन हुआ यह कि राजकुमार ने आम चूसा और गुठली खि की से बाहर फेंक दी। यह देख राजा चिल्लाया, अरे बेटे ! तुमने यह क्या किया ! गुठली ऐसे फेंक नहीं देते।

क्यों, क्यों? वह गुठली किस काम की चूस लेने के बाद? राजकुमार ने सवाल किया तो राजा आगे बोला, अरे इसे हम वापस गरीब को देते हैं, जिससे वह आम उगाता है।

है न किस्सा कोताह, और कोताह भी नहीं।

रविवार की बात कर रहे हैं हम। इस किस्सा कोताह में आम की जगह रविवार रख दीजिए। इस सूरत में भी किस्सा कोताह कोताह नहीं रह जाएगा। राजकुमार ने रविवार चूसा और गुठली खि की के बाहर फेंक दी। इस पर राजा चिल्लाया, अरे बेटे तुमने यह क्या किया। तुम्हें गुठली ऐसे फेंक नहीं देनी चाहिए। . . . .अरे, इसे हम वापस गरीब को देते हैं, जिससे वह हमारे लिए रविवार उगाता है।

x x x x

अब मध्यवर्ग के रविवार की बात करें। रविवार शब्द के अर्थ की।

यहाँ रविवार सात दिनों मे से एक हो, पर शेष छः दिनों से भिन्न है। इसमें बहार और नवाबी की ध्वनि न हो, मुक्ति की अवश्य है। इसीलिए इस रविवार की अलग पहचान है, शब्द का अर्थ है छुट्टी।

यहाँ नोट करना होगा कि ध्वनि की मुक्ति और अर्थ की छुट्टी में आसमान-ज़मीन का फ़र्क है। मुक्ति आजादी है, जबकि छुट्टी मात्र छूट। छूट से मतलब काम की कैद से सावधि पैरोल।

पर एक बात है मुक्ति से छुट्टी ब ी चीज़ है। सावधि की चीज़ सो ब ी सावधानी बरतने वाली। सावधानी जिसमें दृष्टि है, मर्यादा है, विवेक है। यह सब मुक्ति में नहीं होता। मुक्ति तो मैली-कुचैली बाढ़ है - विनाशकारी, जबकि छुट्टी साफसुथरी नदी है - जीवनदायिनी।

मुक्ति मदिरा है - बाढ़ की भाँति ही अंध, मर्यादाहीन और विनाशकारी। इसके विपरीत छुट्टी शहद है - नदी की भाँति शांत, मधुर और जीवनदायिनी। शहद हो या छुट्टी 'बिजी बी' की देन है जबकि मदिरा हो या मुक्ति 'एम्टी माइंड' का अभिशाप है। छुट्टी संस्कृति की माँ है तो मुक्ति विकृति की।

मध्यवर्ग का ज्ञानी रविवार एक कुंभकार की भाँति दुनिया की मिट्टी को सत्य-शिव-सुंदर में ढाल उसे आदर्श मानवीय रूप देने में मग्न है। सदियों से यह काम चल रहा है। इस धरती को अब तक आदर्श मानवीय रूप प्राप्त हो जाता, पर ऐसा चूहों के कारण नहीं हो सका - सत्ता और बाजार के दो चूहों के कारण। ये चूहे रात में अथवा कुंभकार की अनुपस्थिति में उसके यहाँ पहुँच जाते हैं और गढ़ी हुई कृति को उस पर कहीं भी दाँत मार भंग कर चले जाते हैं। ये चूहे ऐसा इसलिए करते हैं कि धरती के भंग रूप में ही इनका अस्तित्व टिका हुआ है।

सवाल यह उठता है कि क्या ज्ञानी चूहों का बंदोबस्त नहीं कर सकता है?

कर सकता है, जरूर कर सकता है। पर चूहे ब े चालाक हैं। खुद वे ज्ञानी का ऐसा बंदोबस्त करते हैं कि वह उनका बंदोबस्त न करे। चूहे कृति को भंग कर जब ज्ञानी के यहाँ से लौटते हैं तो

वहाँ लें याँ कर जाते हैं - सोने की लें याँ। ज्ञानी बस इन्हीं लें यों के मोह में चाह कर भी कुछ नहीं करता।

ज्ञानी दुखी है कि भंग को पुनः-पुनः बनाना प ता है, और संतुष्ट भी कि वह सिरज रहा है।

ज्ञानी रविवार की शहद-यात्रा का ही परिणाम है कि आज धरती ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति, खेल-रंजन, मनन-दर्शन से न केवल अलंकृत है बल्कि स्निग्धता, मधुरता, दिव्यता से युक्त है।

यह शहद-यात्रा अत्यन्त पावन यात्रा है, और इसे मदिरा-यात्रा से जूझना प ता है।

ज्ञानी रविवार मुझे युद्धभूमि के श्रीकृष्ण की भाँति दिखाई देता है जो अर्जुन के रथ का सारथी है। श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म की गीता सुनाता है, ज्ञानी भी सुनाता है, पर उसके रथ में अर्जुन नहीं दुर्योधन है जो अर्जुन का आभास देता है। और-तो-और, ज्ञानी देखता है रथ को घो ा नहीं जुता है, गरीब आदमी जुता है।

इस दौ ती दुनिया का क्या ऐसा ही रथ नहीं है? गरीब घो ा जुता है, ज्ञानी सारथी बना है और धनी रथ का सवार डटा है। धनी ज्ञानी से कहता है चाल तेज करो, ज्ञानी चाल तेज करता है। सवार सारथी को आदेश देता है कि घो े को चाबुक मारो कि वह और तेज दौ े, ऐसा तेज कि मैं इक्कीसवीं शताब्दी में ही बाईसवीं में पहुँच जाऊँ। ज्ञानी सुनकर हिचकिचाता है, अनसुनी कर देता है।

इस पर सवार क्रुद्ध होकर चिल्लाता है, सुना नहीं मैंने क्या कहा ! ज्ञानी शांत स्वर में बताता है, घो ा साक्षात् कर्म है श्रीमान् ! उसकी गति सूरज की गति से बँधी हुई है। आपके चाबुक-लगाम से नहीं। आप घो े को नहीं सूरज को चाबुक मारने की कह रहे हैं कि वह तेज कदम दौ ाये और दोपहर में ही पश्चिम में पहुँच जाये ! और एक बात कहूँ श्रीमान्, हम घो े के चाबुक-लगाम की तो खूब सोचते हैं, उसके चारे की नहीं।

ज्ञानी इसी तरह की नाना बातें समय देख कर सवार को सुनाता है।

आप जानते हैं श्रीमान् ! आप, मैं और घो े की ज़िन्दगी में कैसी विषमता है ! आप प्रातः की सुहावनी धूप हैं, मैं दोपहर की जलती धूप तो बेचारा यह घो ा रात की क ी शीत है।

आपको गन्तव्य तक कौन ले जाता है श्रीमान् ! यह रथ। इस रथ के सवार आप तो गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं, मैं और यह घो ा क्यों नहीं?

रथ और घो ा दोनो कर्म हैं। रथ ज है, घो ा चेतन। दुख है, आपको ज रथ चेतन घो े से ज्यादा प्यारा है ! ऐसे ही जैसे ज महल प्यारा है, चेतन प्रजा नहीं जो महल से जुती उसे खींचती है। सवार ज्ञानी की ऐसी बातें सुन कर रथ के अन्दर ऊँघने लगता है।

इस चलने के क्रम में जब रविवार आता है, तो ज्ञानी रुक जाता है और रथ से उतर कहीं भी चला जाता है। सवार का आदेश है कि घो े को किसी खूँटे या पे से बाँध दो, उसे खुला न छो ो, सो ज्ञानी उसे बाँध देता है। घो े को बाँधते हुए ज्ञानी सोचता है, गरीब में कितनी ताकत है और मैं इसे खूँटे से नहीं बाँध रहा हूँ गरीबी से बाँध रहा हूँ। मैंने इसके लिए स्वतंत्रता-समता का संविधान लिखा, लेकिन फिर भी खूँटा इसका छूटा नहीं।

रथ से छुट्टी पाकर ज्ञानी अपनी मर्जी से कहीं भी चला जाता है - प्रकृति की गोद में, संगीत महफिल में, चित्र प्रदर्शनी में, साहित्य गोष्ठी में, झोप पट्टी सेवा में।

वह सोचता है विशेष रूप से जब वह प्रकृति और साहित्य में होता है, मैं जितना इनमें विस्तारित और विस्तारित बनूँगा और जितना इनको अपने में आत्मसात करूँगा, उतना मैं अपने कर्म और विचार को सही मार्ग और दिशा दे पाऊँगा। मेरा मार्ग और दिशा ही मेरा गन्तव्य है।

वह सोचता है मेरा गन्तव्य और सवार का गन्तव्य टकराता है। कई बार मैं हारता हूँ - हार में भी मेरी सार्थकता है; मैं यदि अपने गन्तव्य को भूलता नहीं हूँ, मैं यदि अपने गन्तव्य से बेईमान नहीं हूँ। फिर मैं जानता हूँ, मेरे साथ न्याय सवार और उसकी व्यवस्था नहीं करेगी, करेगी मेरी निष्ठा मेरे गन्तव्य में और समय।

उधर सवार अपना रविवार गुजारता है पॉप संगीत में, स्पेशल सेल में, कैसीनों में, भविष्यफल में, पंचतारा में। वह अपने चित्र भी खिंचवाता है कभी, फोटोग्राफर से - चित्रकार से।

एक चित्रकार ने उसका चित्र खींचा, और उसे देख वह स्वयं काँप उठा। सवार का चेहरा भे ये का चेहरा था। . . . ज्ञानी ने चित्रकार को कहा, निस्संदेह तुम्हारा चित्र सही है, पर तुम्हारी सही कला इस तरह सीधे-सीधे भे ये की अभिधा में नहीं है, उस व्यंजना में है कि सवार में भे या

दिखे। तलवार में से ही तो व्यंजना पैदा हुई है। स्वयं सवार की जैसे कोड की भाषा वैसे कलाकार की व्यंजना की भाषा।

x x x x

अब उच्च वर्ग के रविवार पर आएँ, उस रविवार पर जिसमें मुक्ति, बहार या नवाबी की ध्वनि है।

यह हा का रविवार नहीं है जिसमें कला, संस्कृति, चिन्तन, प्रणयन होता है, यह माँस का रविवार है - मदिरा, रेस, क्लब, कमेंटरी, फिल्म, महफ़िल, वेश्या, प्रेमिका (देहिका), निन्दा, नुमाइश, भोग, पिकनिक, ब्यूटीपार्लर आदि से युक्त।

इस रविवार में रुचि, समय, पैसा तीनों का सत्यानाश होता है। तथापि इस सत्यानाश का ब ा बोलबाला है। नवाबी जो इसमें है। यह नवाबी मस्तिष्क और विवेक से जितनी दूर-दूर उतनी ऊँची और ऊँची।

मस्तिष्क और विवेक-हीन इस नवाबी रविवार का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत है।

स्थान बँगला, समय मई महीने की दोपहर, मुख्य पात्र नवाब और बेगम।

नवाब ब ी बेचैनी में है। बरामदे में जाता है हॉल में आता है। हॉल में आने पर पलंग पर लेटी बेगम से कहता है, उठो बेगम उठो। अरे, मुझे गवर्नर को रिसीव करने हवाई अड्डे जाना है। मैं तुम्हें आवाज़ दे रहा हूँ और तुम्हारे कानों पर जू तक नहीं रेंग रही है। उठो, डियर बेगम उठो !

हॉल में पंखे चल रहे हैं, कूलर भी लगे हैं तथापि बेगम गर्मी से ऐसी बेहाल जैसे भा की बालूरेत में भुँज रही हो। बेगम क्रोध से अलग तप रही थी कि एअरकंडिशनिंग फेल हो गया है। हुश्श हुश्श करते हुए पति से कह दिया है, पहले एअरकंडिशनिंग दुरुस्त करवाओ, तब आगे की बात।

नवाब बरामदे में जाता है तो नीचे माली पर चिल्लाता है, अरे बद्री अभी भी नहीं लौटा। कहाँ मर गया। अरे, एअरकंडिशनिंग वाले को बुलाने गया है या अलिफ़लैला की राजकुमारी का फूल लेने ! अरे, तुम लोगों को कोई वक्त की कीमत है। मुझे हवाई अड्डे जाना है, गवर्नर को रिसीव करने।

हॉल में लौटने पर फिर वही दुहराता है, उठो बेगम उठो। तुम जानती तो हो गवर्नर आ रहे हैं। मुझे हवाई अड्डे जाना है रिसीव करने !

नवाब ऐसा नवाब कि जब बेगमसाहिबा कप ़े निकाल कर दें नवाब साहब पहनें। सो, मिन्नतें कर रहा था कि वह उठे। वास्तव में गवर्नर को रिसीव करने वह भी पति के साथ जा रही थी, पर मारुति गा ी सर्विसिंग को थी और एंबेसडर में जाना उसकी शान के ख़िलाफ़ था।

गवर्नर विमोचन के लिए आ रहा था। गौरवग्रंथ के विमोचन के लिए जो शहर के उस क्लब की ओर से आयोजित था जिसके नवाब और बेगम सदस्य थे। गौरवग्रंथ नवाब या बेगम का नहीं उनके बुलडॉग का था। तभी नवाब को गवर्नर की इतनी चिंता थी। बद्री अचकचाया था आग-सी धूप में जाने के लिए, पर मालिक का हुकुम सो जाना प ा था। दुकान पर कोई फोन नहीं उठा रहा था। कैसे उठाता, दुकान का भी रविवार जो था।

दो जब बज गये तो नवाब जैसे धीरज खो देता है। कहता है, आने दो बद्री को मैं उसे गोली से उ ा दूँगा। अरे, ये क्या जाने किसी फंक्शन की महत्ता। बस सुबह-शाम रोटी चरना जानते हैं। अरे, ब ा ऐतिहासिक दिन है आज का। गवर्नर आ रहा है मेरे बुलडॉग के गौरवग्रंथ के विमोचन के लिए। उठो, बेगम उठो। मुझे गवर्नर को रिसीव करने हवाई अड्डे जाना है ! ब ा लकी है अपना बुलडॉग कि इसके लिए गवर्नर आ रहे हैं।

इस फंक्शन का प्रायोजक था एक ऊँचा ब्लैक-मार्केटियर।

नवाब बरामदे में फिर जाता है और माली पर चिल्ला लेने के बाद इस बार जब हॉल में लौटता है तो कहता है, जानती हो उस मुरारीलाल ने अपने प्यारे बुलडॉग पर लिखने से साफ-साफ मना कर दिया। कहने लगा, माफ करें। मेरे पास समय नहीं है। मैं इन दिनों स्वामी विवेकानंद का अध्ययन कर रहा हूँ। मैं देख लूँगा इसे। इसका तबादला किसी जंगल में नहीं करवाया तो अपने बाप की औलाद नहीं !

उठो बेगम उठो। आज के दिन का कितने दिनों से इंतज़ार था। शहर के ऊँचे-ऊँचे लोग आ रहे हैं फंक्शन में। उठो।

उस दिन शाम छः बजे क्लब में फंक्शन होता है। ऊँचे-ऊँचे लोग आते हैं। विमोचन गवर्नर के हाथों ही होता है।

इस फंक्शन में ऐसा कोई उपस्थित नहीं था जिसने सोचा हो इस गौरवग्रंथ और उसके विमोचन-समारोह के पीछे कितना-कुछ बरबाद हुआ है, ऊँचा कागज़-ऊँची प्रिंटिंग, ऊँची प्रतिभाएँ, ऊँचे कैमरे, ऊँची रुचियाँ।

दूसरे दिन समाचारपत्रों के कागज़ भी बरबाद होते हैं।

हाँ, अंत में एक बात और। उस शाम को गवर्नर जिस समय गौरवग्रंथ का विमोचन करता है बद्री अस्पताल में बिस्तर पर है, उसे सनस्ट्रोक हो गया है, डॉक्टर कहते हैं उसकी हालत गम्भीर है।

दम्भी

सुमन कुमार घई

मैं मरु का पत्थर
यूँ ही ख ा रहा, यूँ ही अ ा रहा
कभी यह रेत
एक बहती नदिया थी
मैं उसका किनारा
बरगद की छाँव में, पथिक की सेज
थके-माँदों का सहारा
कभी गूँजती बंसी की धुन
कभी बच्चों की हँसी
कभी देखता पनघट पर
सखियों की चुहुल,
नयी दुल्हन का शर्माना
मैं दम्भी, सोचता -
मैं हूँ तो यह सब है,
मैं नहीं तो कुछ भी नहीं
यही सोचता रहा
समय की धारा बहती रही
नदिया किनारा बदलती रही
मैं पाषाण दम्भी
यूँ ही ख ा रहा, यूँ ही अ ा रहा

मैं हूँ विशाल, सक्षम
बलिष्ठ कंधों से समय चक्र रोक दूँगा
वो नदिया तो मुट्ठी से थी
उसी की धारा बदल दूँगा
मैं विमूढ़, न समझा
मैं तो कुछ भी न था
वो समय था, वो नदिया थी
मैं था बस एक किनारा
अब न बरगद की छाँव
न बंसी की धुन
न बच्चों की हँसी
न सखियों की चुहुल, न दुल्हन का शर्माना
बस है तो इस बबूल के काँटे
गर्म लू और एक सन्नाटा
और -
मैं मरु का पत्थर, एक बेचारा

x x x x x x x x x
x x x x x x x
x x x x x
x x x

बोधगया : भगवान बुद्ध की साधना-भूमि

डा. चतुर्भुज

गर्मी की तपिश में हम दो आदमी कार में झुलसते हुए बोधगया की ओर जा रहे थे। एक मैं और दूसरे श्रीलंका के काशाय-वस्त्रधारी एक भिक्षु। पसीने के मारे बुरा हाल था। ह्रदय में एक उल्लास भी था - बोधगया में आयोजित बुद्ध-जयंती समारोह देखने का। मेरे पूछने पर भिक्षु जी ने बताया कि बोधगया अब थो ी ही दूर है। गोभी रोड के पास आते ही गा ी मु ी और बोधगया की स क पर दौ ने लगी। स क के दोनों ओर के वृक्ष छाया प्रदान कर रहे थे। सामने मंदिर का शिखर धूप में चमक रहा था। भिक्षु जी ने बताया कि वही बोधगया का महान् बोधिमंदिर है।

गा ी एक घने वृक्ष की छाँव में मंदिर के प्रांगण के पास ख ी हुई। नल के शीतल जल से हमने अपनी प्यास बुझाई। दुकान में चाय पी। फिर आश्वस्त होकर हम दोनों श्रीलंका के महाविहार में प्रविष्ठ हुए जहाँ स्थविर प्रज्ञाराम तथा नव-नालंदा महाविहार के सिंहली भिक्षु और प्रकांड विद्वान प्रोफेसर डॉ. धर्मरत्न ने हमारा स्वागत किया।

मैं बिहार सरकार द्वारा निर्मित डॉर्मिटरि में ठहरा। शाम को घूमने निकला। बोधगया का छोटा-सा बाजार शाम को ब ा सज जाता है। शर्बत की दुकानें, तिब्बती मंदिर के सामने खिलौनें और रंग-बिरंगे हार, कप े, आगे के कोने पर गया के प्रसिद्ध मगही पान की दुकानें, हरी सब्जियाँ, छोटे-छोटे रेस्तराँ और होटल - मतलब, काम की सारी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

बोधगया को अन्तर्राष्ट्रीय नगरी कह सकते हैं। संसार भर के बौद्ध, महाबोधि मंदिर और बोधिवृक्ष के कारण सहस्त्रों की संख्या में यहाँ आते रहते हैं। श्रीलंका, जापान, बर्मा, थाईलैंड, नेपाल, भूटान, यूरोप, अमरीका तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों के व्यक्ति यहाँ अक्सर मिलते हैं। मंदिरों की यहाँ भरमार है। सनातन मतालम्बियों के लिए भी कई पुराने मंदिर हैं जिनमें श्री जगन्नाथ जी का मंदिर प्रसिद्ध है। लगभग दस किलोमीटर दूर गया शहर जिला का मुख्यालय है। यहीं इन्दौर की रानी अहिल्याबाई का बनाया विष्णुपद मंदिर है, जो स्थापत्य कला का एक अद्भुत नमूना है। फल्गुनदी के तट पर भारत का वह प्रसिद्ध स्थल है, जहाँ पिंड दान किया जाता है।

जब मैं डॉर्मिटरि से निकला, तब पास ही मिला थाई बौद्ध मंदिर जो शाम होने के कारण बंद होने को था। जब मैंने नालन्दा से अपना संबंध बताया तो एक थाई भिक्षु ने मुझे अंदर जाने की अनुमति दे दी। दर्शकों को बोधगया का यदि कोई भी मंदिर सबसे अधिक आकर्षित और प्रभावित करता है, तो वह है थाई मंदिर। थाई स्थापत्य शैली पर बने इस मंदिर के निकले सींग-जैसे कंगूरे ब े विचित्र लगते हैं। मुख्य मंदिर के द्वार पर दो भयानक यक्षों की ब ी-ब ी मूर्तियाँ हैं, जो लगता है द्वारपाल के रूप में ख ी हैं। मैं कुछ देर तक इन मूर्तियों को देखता रह गया।

सीढ़ी के ऊपर चढ़ते ही, मुख्य मंदिर में, भगवान बुद्ध की पीले रंग की एक मूर्ति दिखायी प ती है। मूर्ति विराट और भव्य है। सामने की अगरबत्तियों की सुगंध वायुमंडल को मोहक बना रही थी। मैं क्षण-भर के लिए उस मूर्त्ति के सामने ठगा-सा ख ा रहा, फिर मस्तक स्वतः श्रद्धा से झुक गया। थाई बौद्धमंदिर के पीछे भिक्षुओं का आवास है।

इस मंदिर की बगल से एक स क जापानी बौद्ध मंदिर में जाती है। इस मंदिर का उद्घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी.वी.गिरी ने किया था। एक ब े कक्ष में भगवान बुद्ध की प्रतिमा है। जापानी महाविहार का सबसे ब ा आकर्षण है - कई मन भारी पीतल-काँसे का लटकता घंटा।

श्रीलंका बौद्ध महाविहार संभवतः बोधगया का सबसे पुराना महाविहार है। इस महाविहार के पार्श्व में है तिब्बती मंदिर। यह ब ा अनोखा है। तिब्बती शैली के अनेक चित्र इसकी भीतरी दीवारों पर टँगे हैं। एक भारी और विशाल छतरीनुमा चकरी है जिसे प्रत्येक श्रद्धालु स्पर्श करता है। इन मंदिरों के अलावा दो और बौद्ध मंदिर हैं - चीनी बौद्ध मंदिर और बर्मी बौद्ध मंदिर। चीनी बौद्ध मंदिर श्रीलंका महाविहार के पीछे, स क पर है।

इन मंदिरों की परिक्रमा तो मैंने कर ली, लेकिन अभी प्रचीन महाबोधि मंदिर को मैं निकट से नहीं देख सका था।

दूसरे दिन सुबह बुद्ध-जयंती समारोह था। मैं काफी सुबह मंदिर की ओर चल प ा। आरती सम्पन्न हो चुकी थी और अब शोभा-यात्रा की प्रतीक्षा की जा रही थी। तिब्बती मंदिर से बाजे-गाजे के साथ शोभा-यात्रा प्रारंभ हुई। सबसे आगे तिब्बती लामाओं का दल था, उसके पीछे भिन्न-भिन्न देशों के बौद्ध भिक्षु, भिक्षुणियाँ और उनके पीछे बौद्ध उपासक-उपासिकाओं की कतार। लामागण अपनी परम्परागत लम्बी पीली टोपियाँ धारण किये चल रहे थे। हाथों में पताकाएँ थीं। जुलूस मौन था, बीच-बीच में तिब्बती बाजे बज उठते थे। सभी के हाथ में अगरबत्ती, पुष्प आदि थे। परिक्रमा के बाद सब लोग महाबोधि मंदिर के ठीक पीछे बोधिवृक्ष और वज्रासन के पास बैठ गये। फिर सभी ने त्रिशरण का पाठ किया। बोधिवृक्ष की पूजा हुई। हर देश ने अपनी-अपनी पद्धति से सूत्रपाठ किया।

रोशनी भी मिली तीरगी की तरह

बनाफर चन्द्र

रोशनी भी मिली तीरगी की तरह
आदमी अब कहाँ आदमी की तरह
दूर रहकर कोई बात बनती नहीं
पास आकर मिलो ज़िन्दगी की तरह
आपने ग़म के लम्हे जो बख़्शे मुझे
उनको जीता हूँ मैं खुशी की तरह
क्या करेगा कोई उनको हमसे जुदा
वो घुले हैं हवा में नमीं की तरह
धूप का उसपे कोई असर ही नहीं
उसकी फ़ितरत है बहती नदी की तरह
जब से मज़हब सियासत में दाख़िल हुआ
दोस्ती बन गई दुश्मनी की तरह
वक्त की अपनी पहचान भी खो गई
मैं भी खुद से मिला अज़नबी की तरह
क्या कहूँ मैं 'बनाफर' किसी के बिना
कुछ खटकता है दिल में कमी की तरह

आदमी, जो पूरा ही स गया

गुणानंद थपलियाल

मैं इसे एक कटु सत्य कहूँ या कुछ और, समझ नहीं पा रहा हूँ कि आखिर ऐसा क्यों होता है? मैंने देखा है और अनुभव भी किया है, खासकर उस अवस्था में जब कोई अधिक आयु के कारण, बीमारी के कारण, किसी शोक-संताप के कारण शारीरिक रूप से अधिक दुर्बल हो जाता है तो वह स्वाभाव से अधिक चि चि ा, मन से अधिक निष्करुण शंकालु प्रवृत्ति का और वाणी से अधिक कठोर हो जाता है, आखिर ऐसा क्यों होता है? इसके पीछे कुछ न कुछ कारण तो होता ही होगा। कुछ परेशानियाँ होती होंगी, कुछ समस्याएँ होती होंगी, और भी बहुत कुछ होता होगा। परन्तु, दयासागर गुप्ता को क्या हो गया? उसको किस परेशानी ने घेर लिया? उसके सामने आखिर क्या समस्या आ गई? देखने से तो वह सब प्रकार सम्पन्न है। अभी उसकी चौथी अवस्था भी नहीं आई है। शारीरिक रूप से वह पहले से अधिक हृष्ट-पुष्ट हो गया है। आर्थिक रूप से वह इतना सम्पन्न हो गया है कि चारों तरफ उसकी ही चर्चा होती है। पारिवारिक दृष्टि से वह बहुत ही भाग्यशाली है। जिसके घर में सुंदर और सुशील आचरण करने वाली, मृदु-भाषिणी, आज्ञाकारिणी, निरोगा, पतिव्रता पत्नी हो, एक ल का और एक ल की एक आदर्श परिवार हो, दोनो बच्चे हर क्षेत्र में सबसे आगे, देखने में सबसे उत्तम हों, आचरण और व्यवहार में नम्र और विनीत हों, प्रातःकाल उठकर पहले माता-पिता के चरण छूते हों, तत्पश्चात अपना दैनिक कार्य शुरू करते हों, उस आदमी के चि चि ा या अंहकारी हो जाने का और क्या कारण हो सकता है?

मैं दयासागर को आज से नहीं, कई वर्षों से जानता हूँ। यदि यूँ कहूँ कि जब से होश सँभाला तब से मैं उससे भलीभाँति परिचित हूँ तो यह झूठ नहीं होगा। उसके छात्र जीवन से लेकर सी.पी. डब्ल्यू.डी. में नौकरी करने तक तो हम करीब-करीब साथ ही रहे हैं। वह तब बहुत खुशमिज़ाज, उदार और परोपकारी स्वाभाव का एक आदर्श युवक था। वह बहुत सहनशील, मृदु-भाषी और दूसरों के निमित्त स्वयं कष्ट उठाने वाला एक अच्छा इंसान था। हमारे मोहल्ले में रहने वाले सभी लोगों का वह बहुत चहेता था। यदि यों कहें कि वह सबकी आँखों का तारा था तो इसे कोई भी तब झूठ नहीं कह सकता था।

तब वह अपने पुण्य-प्रताप से किसी बैंकिंग-सेवा परीक्षा में सफल होकर मेरे शहर से बाहर चला गया था और मैं उसी पद पर सी.पी.डब्ल्यू.डी. की सीमेंट-गारे की स कों की पैमाइश में ही जुटा रहा।

समय-चक्र वस्तुतः बहुत तेजी से घूमता रहता है और हम समझते हैं कि इसकी गति बहुत धीमी है। यह हमारा केवल भ्रम ही होता है। देखते-देखते पूरे सात साल कब बीते, यह पता ही नहीं चला।

दफ्तर के काम से उस दिन जब मैं बैंक में गया और बैंक कर्मचारियों ने कुछ कागज़ों में हस्ताक्षर कराने के लिए मुझे जनरल मैनेजर के कमरे की ओर भेज दिया तो कमरे के बाहर की नेम-प्लेट को पढ़कर मैं कुछ देर ठिठक गया, - 'अरे ! तो दयासागर का लुधियाना से यहाँ ट्रांसफर हो गया? अच्छा-अच्छा प्रमोशन हुआ होगा, क्योंकि वहाँ तो मैनेजर था, यहाँ जनरल मैनेजर लिखा हुआ है। यह तो आज मुझे बहुत खुशी की बात इसलिए भी लगती है कि वह मेरा कितना अभिन्न मित्र रहा है यह तो मेरा दिल अच्छी तरह जानता है। हम दोनों की इतने निकट की दोस्ती रही है कि मैंने उसे हमेशा दयासागर की जगह 'दया' से ही पुकारा है और उसने मुझे हमेशा हरिकिशन की जगह 'हरि' नाम से संबोधित किया है। मेरा ही नहीं, अपने सभी परिचितों और अपरिचितों के मध्य वह ब ा लोकप्रिय था। सद्-व्यवहार, पर-उपकार और पर-सेवा की भावना उसमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। ऐसा ही आदमी तो तरक्की करता है। आखिर ईश्वर ऐसे लोगों की मदद नहीं करेगा तो किसकी करेगा !' - ये सब बातें मैं अपने मन के अंदर कहते-कहते कमरे के दरबान से कह बैठा, 'अरे सुनो, जरा अंदर जाकर साहब से कहो कि बाहर हरिकिशन ख ा है, मिलना चाहता है।'

वह बोला - 'लो यह कागज़ है, इसमें अपना नाम लिखो?'

'ठीक है।' मैंने कागज़ में अपना नाम लिख कर दे दिया।

थो ी देर में दरबान बाहर आकर कहने लगा - 'साब के पास आज टाइम नहीं है। कल आना, १२बजे।'

'अच्छा' कहकर मैं चल प ा और सोचने लगा - 'क्या यह वही दयासागर है, कोई और तो नहीं। ब ा आदमी हो गया है, जनरल मैनेजर ठहरा, ब े पद की ब ी जिम्मेदारी भी तो होती है। नाते-रिश्ते क्या, इसमें कभी-कभी अपनी भी तो सुध-बुध नहीं रहती है। आज बेचारे के पास समय ही नहीं होगा। सोच रहा होगा कि हरि आया है तो उसको समय तो देना ही होगा, इसीलिए उसने कल बुलाया है। कल फिर आ जाऊँगा, इसमें मुझे क्या परेशानी है।'

खैर, दूसरे दिन ठीक १२बजे मैं वहाँ पहुँच गया। उसी तरह अपने नाम की पर्ची दरबान को पक ाई। वह तुरंत बाहर आकर कहने लगा, 'अभी टाइम नहीं है, तीन बजे आना।'

मन को ब ी चोट लगी। सोचने लगा, 'यह आदमी अपने को समझता क्या है? मैं भी तो दफ्तर के काम से आया हूँ। यह अक ता क्यों है? समझता क्या है? अंदर जाकर जरा इसे पूछूँ कि आखिर तेरी भी तो कोई ड्यूटी बनती है। मैं भीख माँगने तो इसके पास नहीं आया हूँ। भले आदमी जरा ये तो पूछ लेता कि आखिर काम क्या है? इतनी जल्दी तूने गिरगिट की तरह रंग बदल लिया !' ये सब बातें तो मैं मन के अंदर ही सोच रहा था। बाहर या मुँह से कहने की हिम्मत ही कहाँ थी।

खैर, बैंक की कैन्टीन में जाकर कुछ नाश्ता किया, थो ी देर सुस्ताया और ठीक तीन बजे मैनेजर साहब के कमरे के बाहर बिछी बैंच पर बैठकर दरबान के साथ बतियाने लगा, क्योंकि अंदर उसके ब े साहब अभी लंच से नहीं लौटे थे। ठीक साढ़े तीन बजे के करीब मैनेजर साहब आ गये। दरबान के साथ-साथ मैं भी अभिवादन के लिए ख ा हुआ। यह गुप्ता सात साल में ही कितना हृष्ट-पुष्ट और कितना दिव्य-स्वरूप हो गया है, यह देख कर मैं दंग रह गया। उसने जब चश्मे के अंदर से मेरी ओर देखा तो मैं कह बैठा - 'मैं हरि हूँ, यानी हरिकिशन हूँ गुप्ता जी, आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।'

'बिलकुल पहचान लिया है ज़नाब, किन्तु आज मेरे पास जरा भी टाइम नहीं है। आप कल नहीं, परसों तीन बजे आइयेगा।' यह कह कर वह अपने बिल में घुस गया।

मैं हारे हुये जुआरी की तरह रास्ते भर सोचता रहा, -'क्या पद पाकर इतनी जल्दी बदल जाता है इंसान ! अरे भले आदमी, ज़रा यह तो पूछ लेता कि आखिर काम क्या है? एक मामूली हस्ताक्षर ही तो इन कागज़ों में कराने थे। दफ्तर ने इस काम को मुझे ही सौंपा था, इसलिए जा रहा था। मुझे क्या, मैं आज ही इन कागज़ों को दफ्तर को लौटा देता हूँ। इतना ब ा ऑफिस है। मैंने ही कोई ठेका तो नहीं लिया है साइन कराने का' - आदि-आदि।

मन की गति विचित्र होती है। मुझे उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की ये पक्तियाँ स्वतः याद आने लगीं कि 'हवा के एक झोंके को इधर से उधर आने-जाने में देर लग सकती है किन्तु मन को बदलने में तनिक भी देर नहीं लगती है।' मैं फिर सोचने लगा - 'नहीं-नहीं मुझे नाराज़ नहीं होना चाहिये, वह परसों की ही तो बात कर रहा है। मैं परसों फिर आ जाऊँगा मिलने के लिए। दफ्तर में भी मैंने पहले ही दिन बढ़-चढ़ कर बता दिया कि बैंक का जनरल मैनेजर मेरा बचपन का दोस्त है। दफ्तर वाले क्या सोचेंगे? अभी तो कह सकता हूँ कि वह बीमार है और परसों आएगा। कोई बात नहीं परसों फिर आऊँगा। क्या पता उसकी भी कोई मजबूरी होगी।

परसों भी आया और मैं ठीक तीन बजे बेंच पर बैठकर दरबान के साथ बतियाने लगा। कुछ ही देर में जब जनरल मैनेजर को मैंने अपने कमरे की ओर आते देखा तो दरबान के साथ मैं भी अभिवादन के लिए ख ा हो गया। वे अपने दो-तीन चमचों के साथ अपने कमरे में चले गए और मैं अपने नाम की पर्ची बना ही रहा था कि वे तभी उन लोगों के साथ ब ी फुर्ती से बाहर आए और बिना मेरी ओर देखे ही सामने ख ी लिफ़्ट में बैठकर पाताल-लोक को चले गये।

मैंने दरबान को छोटी इलायची चबाने को दी और पूछा 'अब क्या होगा?'

वह बोला 'अब तो कल ही की बात रही, आप कल जरूर आइयेगा, आपका काम जरूर हो जायेगा, यह मेरी आत्मा कह रही है।'

'अच्छा' कहकर मैं वहाँ से चला आया।

मन से कुढ़ा हुआ मैं दूसरे दिन भी उसी प्रकार बेंच पर जाकर बैठ गया और दरबान के साथ बतियाने लगा। दरबान कहता जा रहा था कि उसने रात को जो खाना खाया था वह उसके स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं रहा। इसीलिए उसका सुबह से पेट ठीक नहीं है और पेचिश की हाजत हो रही है, यह कहते-कहते वह फुर्ती से उठा और बाथरूम की ओर चला गया।

ठीक उसी समय गुप्ता जी का पदार्पण हो गया अपने एक चमचे के साथ जो कुछ फाइलों को पक` उनके पीछे-पीछे चला आ रहा था। मैंने ख` होकर अभिवादन किया। गुप्ता जी ने मेरी ओर देखा तक नहीं। हाँ, उनके पीछे फाइल पक` हुए चमचे ने मेरी ओर देख कर उपहास की हँसी छो दी। मैं जल-भुन उठा।

तब मैंने आव देखा न ताव और दरवाज़े को धकियाते हुए सीधा गुप्ता जी के कमरे में जा पहुँचा। मैंने जाते ही कहना शुरू किया 'गुप्ता जी, मैं अपने दफ्तर के काम से चार दिन से आपके पास आ रहा हूँ। ये रहे वे कागज़ जिसमें आपको हस्ताक्षर करने हैं। आपने शायद मुझे पहचाना नहीं, मेरा नाम हरिकिशन है और हम वर्षों से आपके प ोस में ही तो रहते थे।'

'मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ ज़नाब आपको। आपका नाम हरिकिशन है, आपके ब` भाई का नाम विष्णुकांत है और आपके पिता जी का नाम रामकिशन है। आपको कुछ तहज़ीब तो सीखनी चाहिये। आप पहले बाहर जाइये, अपने नाम की पर्ची दीजिये। हम बुलाएँगे तब आइयेगा। दफ्तर का कुछ प्रोसीजर होता है, उसे पहले सीखिए। जाइये, मुँह क्या ताक रहे हैं आप। प्लीज गेट आउट।'

मैं तिलमिलाता हुआ गोली की तरह बाहर आया। तेज कदमों से नीचे उतरा। अपना दुपहिया वाहन पक ा और दफ्तर में आकर अपने बॉस को कागज़ पक ाते हुए कहने लगा 'सर, यह काम मुझसे न हो सकेगा। किसी और को यह काम सौंपने की कृपा करें, प्लीज।'

'लेकिन हरिकिशन जी, आप तो कह रहे थे कि जनरल मैनेजर आपका बचपन का दोस्त है। बहुत भला आदमी भी है। तो अब क्या हो गया? एक मामूली हस्ताक्षर भी आप नहीं करा सके?'

'सर, वह तब अच्छा दोस्त भी था और अच्छा इंसान भी। किंतु अब तो वह आदमी पूरा ही स चुका है और उससे ब ी दुर्गन्ध आने लग गई है। इसलिए मुझे क्षमा करें। प्लीज़, किसी और को यह काम सौंपने की कृपा करें।'

बॉस अपलक नेत्रों से मुझे देख ही रहा था कि मैं कागज़ों को अस्त-व्यस्त ढ़ंग से बॉस की मेज़ पर छो कर गोली की तरह बाहर आ गया।

पहचान मुश्किल है

डा. भगीरथ ब ोले

बैठकर ज्वालामुखी पर बात मत करना नमी की,
आज फिर पहचान गुम होने लगी है आदमी की।
कुछ पता चलता नहीं, है कौन कौरव, कौन पाण्डव,
क्या जरूरत शस्त्र रखने के लिए कोई 'शमी' की।
पथ पर चलते हुए भी आज अंधे-बावले सब,
वाहवाही चाहते हैं, छे ते हर धुन गमी की।
गर्म है बाजार, बिकते ही रहे ढ़ेरों मुखौटे,
और ख़स्ता हो रही हालत इसी से सरज़मीं की।
थी कभी ताकत, सभी ऊँचाईयाँ थीं हाथ अपने,
चल रही चौपाल पर चर्चा इसी कारण कमी की।

लेखक मित्र

महेश राजा

पहले वह कविताएँ लिखते थे। खूब लिखा। अच्छा भी लिखा और कू ा भी लिखा यह सोच कर कि अपने यहाँ सब खप जाता है। एक दिन में पच्चीस से तीस कविताएँ घिस देते थे। लेकिन जल्दी ही निराश हो गए। कुछ कविताएँ छपी थीं लेकिन पेमेन्ट नहीं मिला।

वे कहानी में कूद गए। जो सामने दिखा उसी पर एक कहानी रग दी। हालत यह थी कि दो-तीन सालों में इतनी कहानियाँ लिख डालीं कि उन्हें टाइप कराने के लिए पैसे नहीं थे। हाथ से लिखने लगे तो हैंड-राइटिंग इतनी अच्छी थी कि संपादकों को कहानी समझ में ही नहीं आई। ध ाध कहानियाँ वापिस आने लगीं। दो कहानियाँ छपीं लेकिन पेमेन्ट नहीं मिला।

वे कहानी छो कर व्यंग्य की तरफ लपके। इन दिनों साहित्य में व्यंग्य का कारकेट उठान पर है। पहले लघु व्यंग्य लिखे। इतने लघु थे कि दो लाइन में समाप्त हो जाते थे। वे पोस्ट-कार्ड पर सीधे लघु व्यंग्य लिख कर संपादकों को भेजने लगे। कई बैरंग पोस्ट-कार्ड वापिस आ गए। वे पिछले रेट के पोस्ट-कार्डों का स्टाक खपाने के चक्कर में पिट गए। कुछ लघु व्यंग्य छपे भी, लेकिन फिर वही दिक्कत. . . .पेमेंट नहीं मिला। उन्हें लगा कि अपने यहाँ का रचनाकार पारिश्रमिक के अभाव में कुंठित हो जाएगा। लघु व्यंग्य और लघु कथा से भी वह निराश हो गए। कुछ ब` व्यंग्य लिखे। वहाँ भी पेमेंट निल। कुछ नाटक लिखे. . .उधर भी जैहिन्द। लेकिन नौकरी में थे इसलिए परिवार चलाने की चिन्ता कम थी। ऊपर से जो मिलता था उसे साहित्य फंड में डाल देते थे। उनके अंदर इतनी सृजन-क्षमता भरी थी कि साहित्य की सभी विधाओं को टच करते हुए उन्होंने रिटायरमेन्ट के बाद इसे गम्भीरता से लेने का निर्णय लिया।

अपने यहाँ लेखकों का शोषण होने की बात वे हमेशा कहते थे और अपना उदाहरण देकर लोगों को बताते थे कि उन्होंने अपने जीवनकाल में इतना लिखा कि उसकी रद्दी तौल दी जाए तो भी उन्हें उससे कई गुना अधिक पैसे मिलते, जितने उन्हें आज तक पेमेंट के रूप में मिले हैं।

और नौकरी-पेशा लोगों के साथ जो होता है, वही हुआ और वे रिटायर हो गए। प्रसन्न भी थे और दुखी भी थे। इसी मिली-जुली मानसिकता के साथ वे साहित्य की कोई नयी विधा तलाश रहे थे।

बहुत दिनों बाद पोस्ट-ऑफिस में उनसे मुलाक़ात हो गई। ढ़ाई-सौ का मनी-ऑर्डर लेकर वे बाहर निकल रहे थे। मुझे देख कर बोले - 'ढ़ाई-सौ का पेमेंट हुआ, अब तो रोज़ कुछ न कुछ मिलेगा।'

मैंने पूछा - 'व्यंग्य के लिए इतना पेमेंट ठीक है?'

वह बोले - 'मारो गोली व्यंग्य को . . . .मैंने भरवाँ बैंगन की व्यंजन विधि महिला-पत्रिका में भेजी थी. . . .उसी का पेमेंट है. . . .अब मैं भरवाँ भिन्डी, भरवाँ परवल और भरवाँ आलू की विधियाँ लिखूँगा. . . .अपने यहाँ व्यंजन-साहित्य की ब ी माँग है और इसमें स्कोप भी बहुत है। भरवाँ बैंगन में काजू और बादाम डाल दो तो वह शाही भरवाँ बैंगन हो जाएगा। यानी कि इसी बैंगन से ढ़ाई-सौ रुपए और बन जाएँगे।'

इसके बाद वे सब्ज़ी मार्केट की ओर प्रसन्न मुद्रा में बढ़ गए।

ईमान का इनाम

डा. योगेन्द्र शुक्ल

सोहन दो वर्षों से साहब के घर पर काम पूरी निष्ठा और ईमानदारी से कर रहा था। सोहन साहब के गाँव का रहने वाला था। बी.ए. उत्तीर्ण सोहन नौकरी की तलाश में जब शहर आया तो साहब से मिला। साहब ने उसे घर के काम के लिए रख लिया। उसे आश्वस्त किया कि जब कभी उनके दफ़्तर में कोई पद रिक्त होगा तो वे उसकी नियुक्ति कर देंगे।

साहब की पत्नी दफ़्तर के नौकरों पर ज़रा भी विश्वास नहीं करती थीं, पर सोहन की ईमानदारी से वे बेहद प्रभावित थीं। सोहन जी-जान से घर के कार्यों में जुटा रहता। एक वर्ष बाद कार्यालय में दो लिपिकों की जगह खाली हुई। इस बीच साहब के कहने पर सोहन टाइप भी सीख गया।

साक्षात्कार के दिन सुबह साहब की पत्नी ने साहब से सोहन की ऐसी प्रशंसा कर दी कि साहब गहरे सोच में प गए ! पत्नी ने कहा 'सोहन बहुत ईमानदार और सीधा है... ऐसे परिश्रमी लोग आजकल मिलते कहाँ हैं?.... और वैसे भी इतना ईमानदार आदमी आपके कार्यालय में कैसे खप पायेगा? ऐसे आदमी की जरूरत आपके कार्यालय को नहीं, हमारे घर को है।'

अगले दिन चयन-सूची प्रकाशित हुई, लेकिन उसमें सोहन का नाम नहीं था।

सुकरात के बेटे

डा. दामोदर ख से

सुकरात के बेटे
आज भी
ईमान
अपने हाथ में लेकर आते हैं....
बेचारे,
ज़हर से नहीं
भूख से
मर जाते हैं !

बचपन

डा. अरविन्द ठाकुर

फटे पुराने वस्त्रों से झाँकता हुआ बचपन
चन्द सिक्कों की इस दौ से हाँफता हुआ बचपन।

कभी बूट-पालिश से अपने बक्से को ठपठपाता,
और किसी बाबू के मँहगे जूतों को चमकाता,
धुँधली रेखाओं वाली काली हथेली को दिखाता
सौदेबाजी के बाद वो टाई सुधारकर सिक्का थमाता,
भविष्य को इस कालिख से माँजता हुआ बचपन
फटे पुराने वस्त्रों से झाँकता हुआ बचपन।

कचरे के ढ़ेर से भरा कंधे पर एक थैला उठाता
ढूँढ़ता इस शहर के व्यर्थ में जीवन की सार्थकता,
जब तथाकथित सभ्य इंसान वहाँ से गुजरता
नथुने और भृकुटि सिको कर इस सत्य को नकारता,
दूषित गंध में कल की खुशबू ढूँढ़ता हुआ बचपन
फटे पुराने वस्त्रों से झाँकता हुआ बचपन।

स क के उस मो पर भरी धूप में पत्थर तो ता
जीवन की इस कठोरता में भी कोमल सपने सँजोता,
लक्ष्य से बेखबर हजारों की मंजिल का रास्ता बनाता
दिहा ी के लिए ठेकेदार को छाले प` हाथ फैलाता,
कलम की जगह हथौ` में पथराता हुआ बचपन
फटे पुराने वस्त्रों से झाँकता हुआ बचपन।

जमूरा बनकर डमरू की ताल पर करतब दिखाता
सिकु` छल्ले से बहन के साथ कमर घुमाता,
बनावटी हँसी टिकाए मुख पर हँसता हँसाता
टहलती हर एक नज़र को अपनी तरफ खिंचाता,
रस्सी की लकीरें पाँव पर दिखाता हुआ बचपन
फटे पुराने वस्त्रों से झाँकता हुआ बचपन।

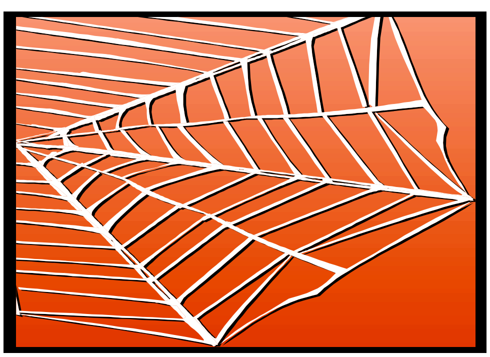

मेयर की जेब, व्यवस्था की जेब

डा. जवाहर चौधरी

वो राजनीति में नहीं है, नगरनिगम का कर्मचारी भी नहीं है, डंडे-झंडे उठाने वाला तथाकथित पार्टी कार्यकर्त्ता भी नहीं है और जेबकतरा तो कतई नहीं है, फिर भी उस दिन वह नगरनिगम में मौजूद था। बहुत से लोग होते हैं वहाँ कोई मतलब नहीं होता जहाँ वे होते हैं। काफी भी थी। हर आदमी सीना फुलाए घूम रहा था। राजनीति और मज़ाक दोनों चल रही थी। कहीं मज़ाक की जगह राजनीति चल रही थी तो कहीं राजनीति की जगह मज़ाक हो रहा था। उसे यह सब देख कर ब ा मज़ा आ रहा था। तभी किसी ने आ कर बताया कि मेयर की जेब कट गई है। प्रश्न करती दूसरी आवाज़ आई कि कितने रुपये गए? लेकिन किसी को पता नहीं था। अनुमानों से रुपयों की संख्या बढ़ती जा रही थी। मेयर की जेब में पैसों से ज्यादा कीमती चीज़ होती है नगर और व्यवस्था की प्रतिष्ठा। जेब कटी, प्रतिष्ठा चली गई। कुछ लोग जेब कतरे की हिम्मत पर चकित थे, कुछ कु-शासन को कोसने का टाइमपास कार्यक्रम संपन्न करने में लगे थे।

उसे बात पूरी तरह समझ में आई नहीं तो खुद होकर एक जागरूक किस्म के व्यक्ति से पूछा - क्या हुआ? किस बात की चर्चा हो रही है?

उस आदमी ने पहले जाँचती हुई निगाहों से देखा और फिर बताया कि मेयर की जेब कट गई है। सुनते ही उसने अपनी जेब में हाथ डाला। उसकी जेब खाली थी। आसपास वालों ने उसे आश्चर्य से देखा, लगा कि उसकी जेब भी कट गई है लेकिन वह संतुष्ट हुआ, उसकी जेब में कुछ नहीं था। स्कूल के दिनों में शरारती ल के किसी का पेन चुरा कर उसके बस्ते में डाल दिया करते थे। कई बार उसे मार खानी प ी, अंत में स्कूल से भी निकाल दिया गया। वह सच कहता रहा लेकिन किसी ने नहीं सुना। आज उसके सहपाठियों में कुछ नेता हो गए हैं और कुछ जेबकतरे। उसे लगा कि फिर किसी ने शरारत की, लेकिन जेब खाली थी। ईमानदारी साबित करने के लिए खाली जेब से ब ा प्रमाण और क्या हो सकता है ! इस उपकार के लिए उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया। बेगुनाही के इस अहसास के साथ संभावना न होते हुए भी उसका पिद्दी सीना दस प्रतिशत फूल गया। प्रागंण में जिस तरफ करदाता श्रेणी के अ-करदाता ख े थे उस तरफ पूरे आत्मविश्वास के साथ वह बढ़ा। लेकिन तभी उसने कंधे पर एक ठोस हाथ की पक महसूस की। देखा, पुलिस है। ईमानदारी के कंधे आजकल काफी कमजोर हो चले हैं। वह ल ख ाता-खिंचता उसके साथ एक तरफ चला।

'तेरी भी जेब कटी है क्या?' पुलिस ने तहकीक़ात शुरू की।
'नहीं' उसने अपनी खाली जेबें उलटते हुए कहा जो इस समय उसकी प्रतिष्ठा थीं।
'तो फिर किसी की जेब काटने आया है क्या?'
'नहीं, बिल्कुल नहीं साब' वह डर गया।
'कोई पार्टी वाला है?'
'नहीं तो' उसने ऐतराज़ किया।
'किसी नेता का पालतू है?'
'नहीं साब, मैं एक शरीफ़ आदमी हूँ।' शराफ़त पर उसने जरूरत से ज्यादा ही जोर दे दिया। उसे नहीं मालूम था कि साब को शराफ़त से एलर्जी है।
'अच्छा! तू शरीफ़ है! अबे मेरे को ये भी समझा दे कि यहाँ शरीफ़ आदमी का क्या काम है?'

वह समझ गया कि अबे-तुबे के बाद पुलिस का अगला शिष्टाचार क्या होगा। सो उसने घिघियाने की सी विनम्रता से कहा - 'मैं सचमुच में एक शरीफ़ आदमी हूँ साब, आपने मेरी जेबें देखी हैं, बिल्कुल खाली हैं साब।'

'अबे हमें बनाता है। . . . अभी देश ने इतना विकास नहीं किया कि शरीफ़ों की जेबें एकदम खाली रहें।' साब अनुभवी थे, कई-कई घाटों पर कई-कई ऐंगल से पानी पी चुके थे।

'साब आपको गलतफहमी हो गई है। आप मानिए तो सही . . . ।' वह गि गि ाया।

'अबे चोप, पुलिस पर गलतफहमी का आरोप लगाता है।' . . . (एक गाली) साब ने दो झाप रसीद करते हुए अपने हाथों की दैनिक खुजली मिटाना आरंभ की। 'तू समझता है कि पुलिस ने कभी शरीफ़ों की जेबें नहीं देखीं। शरीफ़ से शरीफ़ आदमी की जेब में भी चाय-नाश्ते के पैसे होते हैं। हमे बनाता है ! चल थाने।'

नगर के लिए यह महत्वपूर्ण ख़बर थी कि चुने जाने के तत्काल बाद मेयर की जेब कट गई। हो सकता है कि कुछ लोग इसे पुलिस के लिए शर्म या चुनौती की बात मानें। लेकिन अधिकांश लोगों का मानना है कि शहर के प्रथम नागरिक का सम्मान हर कोई अपने-अपने तरीके से कर रहा है। मिठाई वाले ने मिठाई खिलाई, ढ़ोलक वाले ने ढ़ोलक बजाई, कलाकार नाचे-झूमे, और जेबकतरे ने जेब काट कर अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराकर शुभकामना दी। छोटा जेबकतरा रहा होगा वरना आजकल तो जेब काट कर वे अपना विज़िटिंग कार्ड छो जाने की हिम्मत रखते हैं। कर लो क्या करना है। कानून के हाथ छोटे और पेट ब े होने लगे हैं।

जब पुलिस उसे थाने ले जाने लगी तो उसके खाली हाथों के तोते उ ने लगे। एक बार और वह ऐसे ही प्रकरण में फँस गया था, तब भी उसके हाथ से काफी तोते उ े थे। मज़बूर आदमी के हाथ में सिर्फ़ तोते ही होते हैं और वे भी कठिन समय में उ जाते हैं। आज फिर उ े तो वह समझ गया कि उसे व्यवस्था पर आए गंभीर संकट को बचाने के काम में लिया जा रहा है। पुलिस को कानून भी कहते हैं लोग। कानून सब जानता है, लेकिन जानता है कि उसे जानना है और क्या जानने देना है।

एक पत्रकार पास दौ ते हुए आया। कागज़ और कलम निकालते हुए उसने पुलिस को तुरंत प्राप्त हुई सफलता के लिए बधाई दी। बाक्स ख़बर हाथ लग जाने के कारण वह प्रसन्न था। ख़बर खोजी ने उससे पूछा - 'मेयर की जेब काटने के बाद आप कैसा महसूस कर रहे हैं?'

उसने इंकार किया तो पत्रकार मुस्कुराया। उसने बताया कि वह एक शरीफ़ आदमी है तो उसकी आधा इंच मुस्कान पौन इंच हो गई। उसने सच्चाई का सबूत देते हुए अपनी जेबें दिखाईं। इस बार पत्रकार हँसा और पुलिस वाले को पारखी नज़रों के लिए दाद देते हुए लौट गया। कल की सुर्खी के लिए अब उसे पता लगाना है कि मेयर की जेब में कितने रुपये थे, कहाँ से आए थे और क्यों आए थे। यह भी जानना चाहता था कि जेब कटवाने का उनका यह पहला अनुभव था या इससे पहले भी वे कटवा चुके थे। भविष्य में वे अपनी जेब अपने कुर्ते में ही रखेंगे या आसपास लगे रहने वाले चमचों की जेब से काम चलाएँगे। कहीं ऐसा तो नहीं कि मेयर जानते हों कि उनकी जेब किसने काटी लेकिन पार्टी अनुशासन के कारण उसका नाम नहीं बता रहे हों। खोजी पत्रकार को पता है कि सच्चाई की परत बहुत नीचे होती है, खासकर नेताओं के मामले में। सो, इरादों की कुदाल के साथ टोह लेता वह गुम हो गया।

इधर पुलिस ने उस खाली जेब ईमानदार को अपनी मोटर में बैठा लिया था। उसे रुलाई आ रही थी, लेकिन रोने के संवैधानिक अधिकार के बावजूद वह रो नहीं पा रहा था। साथ बैठे पुलिसवालों में से क्लीन-शेव्ड पुलिसमैन से उसने सेमी-रुलाई के साथ पूछा - 'भइया मारोगे तो नहीं?'

'नहीं' क्लीन-शेव्ड ने उपेक्षा से कहा।

'क्या सचमुच नहीं मारोगे?!'

'बार-बार पूछेगा तो मारेंगे।'

'साब, भगवान जानता है मैंने जेब नहीं काटी है।'

'हम भी जानते हैं।'

'आप ही भगवान हो माई-बाप।' उसने हाथ जो   दिए।

'अबे चुप बैठा रह।' पुलिस वाले ने डंडा दिखाकर डाँट लगाई। 'भगवान का ब ा भगत है ! इतना भी नहीं जानता कि भगवान जो करते हैं लोक कल्याण के लिए ही करते हैं।'

डाँट सुन कर उसकी घिग्घी बँध गई। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि जो शरारत स्कूल में उसके साथी किया करते थे वैसी शरारत अब उसके साथ कौन कर रहा है !?

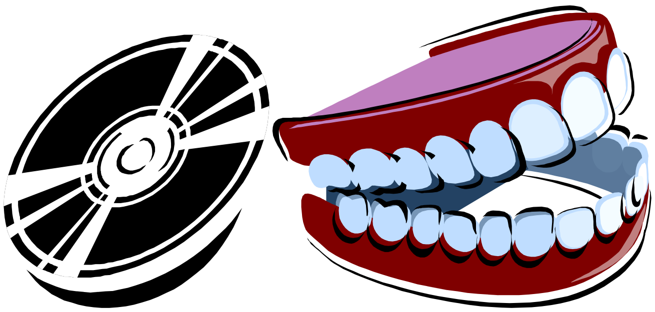

आस्था के आयाम

लता पाण्डेय

तर्कों के नियामकों से
आस्था के आयाम
नहीं मापे जा सकते,
क्योंकि आस्था की भाषा
विश्लेषण की नहीं
सम्पूर्ण समर्पण की होती है।
मैंने,
सआस्था
अंजुलि के अर्घ्य से
गंगाजल को
चंदनगंधा बनते देखा है
और देखा है उससे प्रभूत
उत्कट इच्छाशक्ति को
जो मृत्यु के क्षणों को भी
एक उत्सव में बदल देती है।

भारतीय भाषाओं की संजीवनी शक्ति और राष्ट्रीय ऊर्जा

डा. विजय राघव रेड्डी

इस बात को लेकर मैं अक्सर सोच में प जाता हूँ कि स्वतंत्र देश के हम नागरिकों का कितना दुर्भाग्य है कि अभी हम अपनी भाषाओं की संजीवनी शक्ति को नहीं पहचान पाए हैं। अँग्रेजियत के भ्रामक जाल में फँसकर, अँग्रेजी के मोह में प कर अपनी भाषाओं की बलि चढ़ा रहे हैं। संतोष देने वाली बात यह है कि कुछ वर्ष पहले से हमने, खासकर हम हिन्दी वालों ने (हिन्दी में काम करने वाले को चाहे वह कहीं का भी क्यों न हो और कोई भाषा बोलनेवाला क्यों न हो, मैं उसे हिन्दी वाला मानता हूँ) केवल हिन्दी की बात न करते हुए उसके साथ सभी भारतीय भाषाओं को साथ लेकर विचार करने का उपक्रम प्रारम्भ किया है। यह स्वागत योग्य है और इसके अच्छे दूरगामी परिणाम निकलने के आसार हैं।

वैसे देखा जाए तो कोई भी भाषा अपने आप में शक्तिविहीन नहीं होती, कमज़ोर नहीं होती। अपने भाषायी समाज की हर आवश्यकता की पूर्ति करने की सामर्थ्य उस भाषा में विद्यमान रहती है। भाषायी समाज यदि भौतिक दृष्टि से विकसित, संपन्न व आधुनिक माना जाता है तो समझ लीजिए कि उस समाज की भाषा भी विकसित, संपन्न व आधुनिक मानी जाएगी। समाज जितनी अधिक मात्रा में अपनी भाषा का प्रयोग करता है, जितने अधिक क्षेत्रों में और जितने अधिक संदर्भों में अपनी भाषा को उपयोग में लाता है उतनी ही मात्रा में उन क्षेत्रों व संदर्भों में भाषा विकसित होती है।

भाषा अपने आप विकास की गति को प्राप्त नहीं करती। यह तर्क सरासर गलत और शरारत-पूर्ण है कि 'हमारी भाषाएँ विकसित नहीं हैं, पहले इनको विकसित होने दीजिए और बाद में इनका प्रयोग विविध क्षेत्रों में करेंगे और तब तक अँग्रेजी का प्रयोग जारी रखेंगे।' इस भ्रांत धारणा को अपने दिलो-दिमाग से निकालना होगा। यहाँ यह भी स्मरण रखने की बात है कि किसी भी समाज का सर्वांगीण विकास उसकी अपनी भाषा के माध्यम से ही संभव है। इतिहास में ऐसे उदाहरण अब तक नहीं हैं कि किसी समाज या राष्ट्र ने अपनी भाषा को छो किसी परायी भाषा के ज़रिए अपनी जनता की उन्नति करा पायी हो। लगता है कि हमारे लोग नया इतिहास बनाना चाहते हैं, या फिर इतिहास की गति को उलट देना चाहते हैं।

बहुत ब ी साज़िश के तहत हममें यह भ्रम फैला दिया गया है कि हमारी भाषाएँ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनने की सामर्थ्य नहीं रखतीं और हिन्दुस्तान के लिए अँग्रेजी ही ऐसी भाषा है जिसके द्वारा सारा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान हासिल किया जा सकता है। अँग्रेजी जानने वाला ही आधुनिक व सभ्य है। और अँग्रेजी से ही देश में एकता बनी रहेगी। हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसी बना दी गयी जिससे हम अपनी भाषाओं से वंचित रहें, अपनी भाषाओं की संजीवनी शक्ति से अनभिज्ञ रहें, अपनी राष्ट्रीय ऊर्जा को न पहचान पाएँ, अपनी भव्य साहित्यिक, सांस्कृतिक परम्पराओं से कटे रहें। हम अपनी भारतीयता को भूल जाएँ और अपने इतिहास को ही भूल जाएँ। अँग्रेजी के माध्यम से जो भी विचार हिन्दुस्तान में आए उसे ही प्रामाणिक मानें व स्वीकार्य योग्य समझें, और देशीय-विचार, देशीय-चिन्तन और देशीय-वस्तु को दकियानूसी समझें।

पाश्चात्य देशों की संस्कृति को 'प्रगतिपरक' और हमारी संस्कृति को 'अभिव्यक्ति परक' की संज्ञा देकर यह बताया जाता है कि हमारे यहाँ धर्म, दर्शन, सौन्दर्य और साहित्य की चेतना की प्रमुखता है और इसलिए इन विषयों से संबंधित अधिक वा मय और अधिक शब्दावली हमारी भाषाओं में हैं, जबकि पाश्चात्य देशों में (भारतीयों के लिए पाश्चात्य देश और पाश्चात्य भाषा का बहुधा तात्पर्य है, अँग्रेजियत से वशीभूत देश और अँग्रेजी) भौतिक प्रगति से संबंधित आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के तमाम शास्त्रों का विकास हुआ है और इसलिए अँग्रेजी में इन शास्त्रों से संबंधित विपुल वा मय उपलब्ध है। यदि प्रगति को हमें हासिल करना है तो इन शास्त्रों से परिचित होना है और इन शास्त्रों का ज्ञान अँग्रेजी के माध्यम से ही संभव है। प्रचीन भारत में इन शास्त्रों का वास्तव में विकास हुआ था। इन शास्त्रों से संबंधित विपुल वा मय हमारी प्राचीन भाषाओं में - संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और तमिल भाषाओं में उपलब्ध है। लेकिन हमें अपनी इन प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से वंचित रखा गया

या हम ही स्वयमेव अज्ञानता के कारण इन से कट गये। वास्तव मे हम अपनी भव्य परम्परा से कटे हुए हैं। लेकिन हमारी इन प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध प्राचीन शास्त्रों का अधिक दोहन पाश्चात्य देशों में हो रहा है और पाश्चात्य देश इन से भरपूर लाभ उठा रहे हैं।

इन प्राचीन भाषाओं से विकसित हमारी वर्त्तमान आधुनिक भारतीय भाषाओं को भी वे सारे गुण लक्षण, प्रवृत्तियाँ व सामर्थ्य विरासत में प्राप्त हुए हैं। अँग्रेज राज स्थापना से पहले तक वे सारी भाषाएँ अपने-अपने इलाकों में संबंधित भाषायी समाज की समस्त आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करती रहीं और संपर्क भाषा के रूप में मध्य देश की भाषा पहले संस्कृत और बाद में क्रमशः पालि, प्राकृत और अपभ्रंश कार्य करती रहीं। संपर्क भाषा के विकास, प्रचार प्रसार में सभी इलाकों के सभी भाषाओं के लोग योग देते रहे हैं। तमिल भाषी लोग इसके अपवाद नहीं रहे हैं, बल्कि अन्य लोगों की तुलना में तमिल प्रांत के लोगों का इसमें अधिक योगदान के प्रमाण मिलते हैं। नवीन शोध से यह पता लगा कि तमिल भाषी अन्य देशवासियों व विदेशियों से संपर्क के लिए संस्कृत का प्रयोग करते थे।

तमिल व्यापारी चीनी और जापानी व्यापारियों से तथा अन्य दक्षिण पूर्वी एशियायी देशों के व्यापारियों से अपना व्यवहार संस्कृत के ही माध्यम से किया करते थे। लगभग सभी भारतीय भाषाओं का मुख्य स्त्रोत संस्कृत शब्द संपदा है। बताया जाता है कि संस्कृत में मूल धातु १७०० हैं, जिन्हें ७० प्रत्यय तथा ८० उपसर्ग जो ने से जो शब्द संख्या उभरती है वह है २७,२०,०००। संयुक्त शब्द और वह भी मात्र दो शब्दों से बननेवाले जो दें तो ७६९करो शब्द बनते हैं। इसमें दो राय नहीं है कि समस्त भारतीय भाषाओं ने अपनी आवश्यकता के अनुसार संस्कृत की इस अपार शब्द-संपदा से लाभ उठाया है। भारत की भाषाएँ ही नहीं अपितु बृहत्तर भारत के अंग माने-जाने वाले दक्षिण पूर्वी एशियायी देशों की भाषाएँ भी संस्कृत की ऋृणी हैं।

सार्वदेशिक जनसंपर्क भाषा के क्रम में वर्त्तमान समय में हिन्दुस्तानी संपर्क भाषा के रूप में काम में आ रही है। यही संपर्क भाषा हिन्दी और उर्दू के नाम से भी जानी पहचानी जाती है। इस संपर्क भाषा हिन्दी की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय जी कहते हैं 'हिन्दी अपने आरम्भ से ही प्रतिष्ठान के विरोध की भाषा रही है। न कभी प्रतिष्ठान को उसने अपनाया, न उसे कभी यह सोचने का कोई कारण या आधार मिला कि वह प्रतिष्ठान के साथ संयुक्त है या हो सकती है। इस विरोध की भावना ने उसे एक विलक्षण आत्म-विश्वास दिया, एक गहरे धार्मिक संस्कार के बीच भी लौकिक जन मात्र के महत्व का बोध कराया। प्रतिष्ठान विरोधी अपनी मूल प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए हिन्दी दूसरी ओर परम्परा का संवहन करने वाली भाषा भी बनी रही। अपने स्वभाव और अपनी प्रादेशिक स्थिति के कारण हिन्दी में निरन्तर एक सांस्कृतिक केन्द्रोन्मुखता रही जिसके कारण भारत भर में होने वाले सांस्कृतिक विकास को और चिन्तन की नयी प्रवृत्तियों को उसने ग्रहण किया और फिर समस्त देश में वितरित किया। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन के प्रभाव हिन्दी ने ब्रज मंडल में ग्रहण किये और फिर सुदूर असम तक वितरित कर दिये। इसी प्रकार बंगाल और नेपाल से सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को ग्रहण करके उसने सुदूर दक्षिण तक पहुँचाया। सही अर्थों में हिन्दी एक 'सांस्कृतिक क्लियरिंग हाउस' का काम करती रही। इस प्रकार हिन्दी उन दिनों में ब्रज मंडल से बाहर सारे देश में सम्मान पाती थी। और इसका कारण यह नहीं कि ब्रज मंडल का कोई समर्थ और शक्तिशाली राज्य था जिसके दब-दबे के कारण दूसरे राज्य उसकी भाषा को सम्मान देते हों। कारण यह था कि हिन्दी भारतीय संस्कृति की समग्रता की वाणी भी थी। भारतीय चेतना के प्रसार में योग देती थी और भारतीय प्रतिभा की उपलब्धियों को सारे देश से संग्रह करके सारे देश में वितरित करती थी।' असम के ब्रजबुली साहित्य में और केरल के राजा स्वातितिरुणाल के गीतों में जो भाषा प्रयुक्त है वह ब्रज भाषा ही है। आन्ध्र प्रदेश की एक पुरानी रियासत 'वेंकटगिरि' में अभी हाल ही में ब्रजभाषा में एक पांडुलिपि मिली है जिसकी लिपि तेलगु है। इसमें ब्रज भूमि की चौरासी कोस की यात्रा का क्रमबद्ध वर्णन है। इस पांडुलिपि का संबंध संवत् १६०० से माना जाता है।

आठ खंडों में प्रकाशित तेलगु शब्द-कोष सूर्यरायान्ध्र निघंटुवु के आठवें खंड में 'संजीवनी का अर्थ दिया हुआ है 'कलसिब्रतुकुट' अर्थात् साथ मिलकर जीने का गुण। भारतीय भाषाओं के संदर्भ में यह अर्थ सटीक बैठता है क्योंकि अनंत काल से हमारे देश की भाषाएँ बिना किसी संघर्ष के एक-दूसरे को परिपुष्ट और संपुष्ट करती हुई साथ-साथ मिलकर विकसित और समृद्ध होती गयी हैं। ब्रिटिश

राज्य की स्थापना के बाद अँग्रेजी के कारण उपेक्षित प ी हुई हमारी भाषाओं की इस संजीवनी शक्ति का सही इस्तेमाल हम नहीं कर रहे हैं। और इस तरह हमारी राष्ट्रीय ऊर्जा बेकार प ी हुई है।

अँग्रेज राज्य की स्थापना के बाद भी भारतीय भाषाओं को उचित दाय दिलाने के लिए आंदोलन होते रहे हैं। १९२० से अर्थात् राष्ट्रीय काँग्रेस पार्टी के भाषावार पुनर्गठन से लेकर १९५६ तक अर्थात् राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफ़ारिशों को अमल में लाने तक भाषावार राज्य रचना के लिए जो प्रयास किये गये थे, इनके पीछे एक उद्देश्य यह भी था कि भारतीय भाषाओं की संजीवनी शक्ति से प्रत्येक राज्य और सम्पूर्ण राष्ट्र फायदा उठाये। हर साल हम १४सितम्बर को हिन्दी दिवस मनाते हैं क्योंकि १४-९-१९४९को संविधान सभा ने संघ की राजभाषा हिन्दी से संबंधित अनुच्छेद ३४३ पारित किया। वास्तव में देखा जाए तो १४सितम्बर का दिन आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास संबंधी संघर्ष के इतिहास में ब ा महत्वपूर्ण दिन माना जाएगा। इस ऐतिहासिक घटना की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। यह घटना संविधान सभा के द्वारा अनुच्छेद ३४३ के पारित करने के दिन १४-९-१९४९से ठीक १०२साल पहले अर्थात् १४-९-१८४७ से संबंधित है। यह घटना सुदूर उत्तर पूर्वांचल में घटित हई है। राष्ट्रीय काँग्रेस पार्टी की स्थापना से पहले ही देश में राष्ट्रीय भावना जाग उठी थी। इतना ही नहीं, भाषा के मसले को लेकर भाषायी अस्मिता और भाषायी अनुरक्षण को लेकर भी सारे देश में आंदोलन भ क उठे थे। सन् १८३६में अँग्रेज सरकार द्वारा कचहरी और स्कूलों में असमीया भाषा को हटाने के आदेश जारी करने से उसके विरोध में असम की जनता ने भारी आंदोलन किया। भाषा को लेकर भारत में उठ ख े हुए आंदोलनों में यह प्रथम आंदोलन है जिसमें परवर्त्ती भाषावार राज्य रचना के आंदोलन की जागृति बीज रूप में छिपी हुई थी। अँग्रेज सरकार को इस समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए 'जस्टिस मिल' के आयोग का गठन करना प ा। सुखद संयोग की बात है कि 'जस्टिस मिल' ने असमीया भाषा का पक्ष लेते हुए उसे राजकाज, स्कूलों व कचहरियों की भाषा बनाने की सिफारिश करते हुए अपनी रिपोर्ट १४-९-१८४७ को ही सरकार को प्रस्तुत की। इस वास्ते भी १४सितम्बर, हमारे लिए स्मरणीय दिन है, गौरव का दिन है। अपनी भाषाओं को पुनः प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा लेने का दिन है।

महात्मा गाँधी जी ने न केवल हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी के बारे में अपने विचार प्रकट किये अपितु समस्त भारतीय भाषाओं पर भी अपने बहुमूल्य अभिमत व्यक्त किये थे। भारतीय भाषाओं पर गाँधी जी ने जो विचार व्यक्त किये उन सब को एकत्रित कर उनका प्रचार और प्रसार कर सकें, उनको सही मायनों में समझ और समझा सकें तो मैं समझता हूँ भारतीय भाषाओं को उनकी वर्त्तमान दयनीय व दुर्भाग्यिपूर्ण स्थिति से उबार सकते हैं। संयोग की बात है कि यूनेस्को ने गाँधी जी के १२५वें जन्म जयंती वर्ष को सहिष्णुता वर्ष के रूप में घोषित किया। राष्ट्र भाषा व भारतीय भाषाओं पर गाँधी जी की चिन्तन-धारा के विपुल प्रचार के साथ, गाँधी जी ने भारतीय भाषाओं की संजीवनी शक्ति एवं राष्ट्रीय ऊर्जा पर जगह-जगह व समय-समय पर जो सुनिश्चित विचार व्यक्त किये थे, उनका राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार भी हमें करना है।

अंत में गाँधी जी के उन सुचिंत्य विचारों में से दो उद्धरण यहाँ देकर मैं इस आलेख को समाप्त करना चाहूँगा।

'देश के नौजवानों पर एक विदेशी माध्यम थोप देने से उनकी प्रतिभा कुंठित हो रही है और इतिहास में इसे विदेशी शासन की बुराइयों में से सबसे ब ी बुराई मानी जाएगी। इसलिए शिक्षित भारतीय अपने आप को विदेशी माध्यम के इस व्यामोह से जितनी जल्दी मुक्त कर लेंगे, हिन्दी और देशी भाषाओं को अपना लेंगे, उतना ही अच्छा होगा।' (यंग इंडिया : ५-७-१९२८ से)

'हमारे भविष्य के राष्ट्रपति को अँग्रेजी जानने की आवश्यकता नहीं होगी। उनकी मदद के लिए ऐसे लोग जरूर होंगे जो सियासत में होशियार होंगे और विदेशी भाषाएँ भी जानते होंगे।' (प्रार्थना प्रवचन : २-७-१९४७ से)

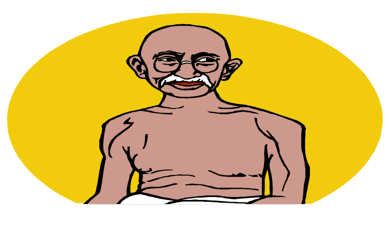

आषाढ़ का आखिरी दिन

डा. सुषम बेदी

आषाढ़ का आखिरी दिन
आज भी वैसी ही धुआँधार बरसात है
जैसी थी आषाढ़ के पहले दिन
चिकने धानी पत्तों से फिसलती बूँदें आज भी
मोतियों की ल ी बन जाती है।

पर क्या होगा कल
जब सारी चिकनाई और श्यामलता
का हश्र होगा
सूखे डंठल से सिकु` हुए पे
रीते हुए बादल
घोंसलों में ठिठुरते पंछी
दानों को तरसते पंछी
कालिदास का मल्लिका से बिछोह
लौटे हुए मेघदूत
सन्नाटे में डूबी
सहमी हुई वनस्पति।

मैं बर्फ में छिपी ज़मीन पर दाना खोजते
तरसते पंछियों के लिए
बासी डबलरोटी के टुक` फेंकते हुए सोचूँगी
आषाढ़ तो फिर लौटेगा
पर ये पंछी
क्या रहेंगे
ल ियाँ सहेजने को
बूँद-बूँद रस से
अंतर सींचने को !

मुखौटे

सुरेश शर्मा

ज़मीन-जायदाद तथा अन्य पारिवारिक झग ों के कारण दोनो भाईयों में परस्पर बोल-चाल बंद थी। यहाँ तक कि दोनो ने एक-दूसरे की सूरत तक न देखने की कसम खा रखी थी। रिश्तेदारों, मित्रों, परिचितों के प्रयास भी उनमें मेल-जोल करवाने में विफल रहे।

ब ा भाई गम्भीर बीमारी के कारण अस्पताल में भर्ती रहा, तब भी लोगों के समझाने के बावज़ूद छोटा दस-पाँच रूपये के फल-फूल तक लेकर मिलने नहीं गया। आखिर छोटे भाई से मिलने की हसरत लिए हुए ब` भाई ने एक दिन प्राण त्याग दिए।

घर के भीतर विलाप चल रहा था। बाहर शव-यात्रा की तैयारी चल रही थी। लोग दुखी मुद्रा में ख` हुए थे। तभी छोटा भाई रोता हुआ तेजी से आया और शव पर लगभग गिरता हुआ-सा दहा` मार उठा - 'भैया, ऐसे चुपचाप क्यों लेटे हुए हो? अपने छोटू से नहीं बोलोगे? ये ज़मीन-जायदाद, धन-दौलत सब आप ले लो भैया। बोलते क्यों नहीं हो? बोलो न भैया ! क्या इसीलिए अपने छोटू को पाल-पोस कर, पढ़ा-लिखा कर ब ा किया था कि इस तरह रूठ कर चले जाओगे।....'

जोर-जोर से आती उसकी आवाज़ को सुन कर बाहर ख` लोगों के दुखी चेहरों पर मुस्कान-सी तैर गई।

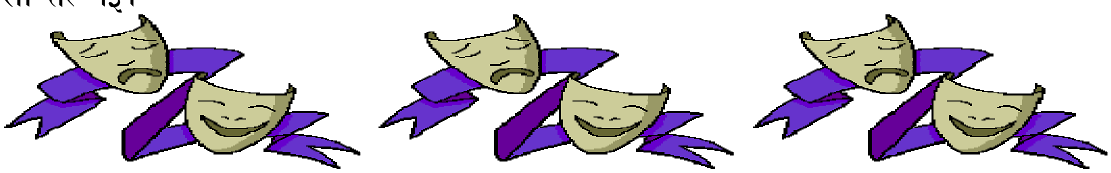

भावनाओं के सागर में

डा. इन्द्रा भटनागर

भावनाओं के सागर में
प्रेम से महान कोई भाव नहीं
जो मानव को आनंद में मग्न कर
देवता बना देता है।

घृणा से ब ा अभिशाप नहीं
जो मानव को हिंसा, क्रूरता, द्वेष
और प्रतिशोध के दावानल में झुलसा
मानव से दानव बना देता है।

प्रेम और घृणा के मध्य
अनेक भावों की छोटी-छोटी तरंगें
उनके किनारों को छूती
प्रवाहित होती रहती हैं।

सात्विकता और तामसिकता के
इस अँधेरे और उजाले के मध्य मानव
कहीं बुद्ध का रूप धारण कर
करुणा और प्रेम की धारा से
मानवता का अभिषेक करता है
और कहीं
इतिहास के पृष्ठ पर रक्त से
नादिरशाही हस्ताक्षर करता है।

जीवन-वीणा का संगीत

डा. सुशीला गुप्ता

वह प्यारा गीत मैं गा न सकी जिसे सुनाने आई थी,
वह सुन्दर बीन बजा न सकी जिसे बजाने आई थी।
तुम दूर वहाँ जा बैठे वीणा देकर मेरे कर में,
कैसे इसे बजाऊँ तुम जैसे मनमोहक स्वर मे!
मेरे जीवन की वीणा के सब तार उलझ कर टूट गए,
मैं उलझ गई उन तारों में जिनको सुलझाने आई थी।
सोचा था जीवन-वीणा पर गीत प्यार का गाऊँगी,
प्रेमामृत की वर्षा कर सारे जग को सरसाऊँगी।
पर मोह-माया की आँधी ने ऐसा भरमाया है,
भूल गई मैं इस जग में हँसने-हँसाने आई थी।
हे जीवन-वीणा के स्वामी वाणी में ऐसा स्वर भर दो,
छलके बाहर भीतर इसमें इतना मंगल भर दो।
डूबे जिसमें सारा अग जग उस अमृत की वर्षा कर दो,
वीणा से वे स्वर झंकृत हों जिन्हें बजाने आई थी,
वाणी से गूँजे वही गीत जिसे सुनाने आई थी।

शांत जीवन

ए. पोप
अनुवादक : मुकेश कुमार

सुखी वही इस जगत में,
जो पैतृक-भू का रखवाला,
संतुष्ट वहाँ साँसें लेकर,
रहता है औरों से निराला।
दूध पीने के लिए कुछ पशु हों,
कुछ भूमि हो अन्न खाने के लिए,
वस्त्र पाने के लिए कुछ भें हों,
पे हों कुछ ताप-छाया के लिए।
इस धरा पर धन्य वही जो हो चिन्तामुक्त,
दिवस, मास और वर्ष भर करे कार्य उपयुक्त,
सुखी रहे संसार में, खुश रहे दिन-रैन,
देवे तन को स्वास्थ्य और मन को चैन।
रात्रि में लेता नींद प्रगाढ़,
आसानी से करता अध्ययन,
मनोरंजन करता साथ-साथ,
स्वेच्छा से आत्म-चिन्तन-मनन।
व्यक्त करता है कवि निज मंतव्य इस पर,
रहने दो मुझे इस संसार से छिप कर,
न बहाना अश्रु मेरी मृत्यु पर,
न बनाना स्मारक मेरी कब्र पर।

सुनामी

स्नेह ठाकुर

हिन्द महासागर के तल से
तिमंजलों जैसी ऊँची लहरों ने
राक्षसी वीभत्स, भीषण रूप धर के
प्रलय की स्थिति उपस्थित करके
कई देशों का विध्वंस किया
संहार का तांडव किया।
गरजती जलधि-उत्तुंगों की गूँज ने
आकाश दहला दिया
वातावरण की गम्भीरता ने
किंकर्त्तव्यंविमूढ़ बना दिया।
कुछ पल मानव स्तम्भित हुआ
सोचने-समझने का वक्त भी न मिला
उभरने, सँभलने की कौन कहे
खुले मुख चींख भी न निकाल पाए
लहरों के लहराते फेनिल सर्प ने
निगल लिया जो भी आया पथ में।
भाई ने भाई को, माँ-बाप ने बच्चों को
बच्चों ने माँ-बाप को, मानव ने मानव को
लहरों पर डूबते-उतराते देखा
सागर के उदर में समाते देखा।
सब चींखते रहे, एक-दूसरे को पुकारते रहे
आर्त्तनाद कुछ सुनाई प ा, कुछ अनसुना ही रह गया
कुछ तट पा गए, कुछ गर्भ में समा गए
सागर न जाने कितनों की जल-समाधि बन गया।
तट पर आईं काफी लाशें पहचानी न गईं
वो सब गड्ढों में ढ़केल दी गईं
अंतिम दर्शन बिना सार्वजनिक अंत्येष्टि संस्कार हुए
ढ़ेर सारे स्वजन मुखाग्नि देने से भी वंचित रह गए।
दर्द की छाँव में सिमटने लगी ज़िन्दगी
पल भर में धराशायी हो गए थे घरौंदे सभी
क़हर के इस भँवर में फँस कर भी
बिन तकाज़ा जीना है ज़िन्दगी।
न केवल ईंट-गारे की टूटी दीवारें
जो नी हैं सीमेन्ट से हमें
निर्मम प्रहार से सताए हुए
अभिशप्त संतप्तों का जीवन सँवारना है हमें।
आज हर एक की आँख में आँसू हैं
पर सत्य उजागर है कि आँसू काफी नहीं हैं
कई देशों की जनता कमर कस चुकी है
मानव ने मानव के लिए हाथ बढ़ाया है।
मानवता में आस्था बनी रहे
भाईचारे की भावना बनी रहे

कब किस पर संकट आता है
यह तो विधि का विधान ही जानता है।
हमें एक-दूसरे का सम्बल बनना है
दृढ़-प्रतिज्ञ लौह-तार-सा सशक्त बनना है
सम्बन्धों को ममत्व-धार से सींचना है
स्नेह-सिक्त-घृत से दीप जलाए रखना है।
प्रकृति के दर्दनाक हादसे से
क्षण में बदल गया जीवन का रूप
शब्दों की सीमा में बाँधूँ कैसे
अवांछित, अवर्णित हादसे का स्वरूप?
पी ा के पर्वत पर चढ़ीं
आहें साँसों में अटकीं
करुणा-सागर में डुबोने वाला
जीवन में भयंकर सैलाब आया।
पलकों में छिपे कुहासों को
आँखों में जलते दुखद पलों को
सीने में बसी बोझिल साँसों को
टूटे ख़्वाबों की ताबीरों को
दुर्दम्य समय के करवट बदलते क्षणों को
ममता की कि यों से जो ना है
उदासी घिरे चेहरों पर स्मित-हास्य लाना है
मँझधार में फँसी नौका को साहिल पे टिकाना है
पतझ में प्राण फूँकना है
जल-प्लावन से उज ी भूमि को फिर से बसाना है
जन-जन के हृदय में प्रेम-वीणा-स्वर गुँजाना है।
हम भारतीय गर्व से सर उठा
कहते हैं दुनियाँ के देशों से
न केवल हम करेंगे अपनों की सहायता
कर गैरों की सहायता फर्ज़ अपना निभाएँगे।
कनेडियन होने का भी गर्व कम नहीं
पर-पी ा आहत हृदय चहुँ ओर सभी
बच्चा-बच्चा दिखा रहा चमत्कार
वसुधैव कुटुम्बकम् को कर रहा साकार।
अतः,
प्रलय-साक्षी दिलों का दर्द मिटाते चलो
आपदा-त्रस्त को आँचल की छाँव देते चलो
ज़ख़्म गहरे, मरहम लगाते चलो
नयनों में नव-स्वप्न जगाते चलो
मन, वचन, कर्म से आस-दीप जलाते चलो
आस-दीप जलाते चलो।

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित